अभयदाता भगवान्

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड ७९

गीतावार्त्ता (११)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृतं वै प्रभुदत्तेन भागवतार्थ सुदर्शनम् ॥

—:o:—

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

✶

प्रकाशक
सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग

—:※:—

प्रथम संस्करण] आश्विन
१००० प्रति] २०२७

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

निःश्वास

आज से ४०-४५ वर्ष पूर्व श्री महाराज जी अपनी दैनंदिनी में कुछ मन को समझाने के निमित्त उपदेश लिखते थे। उन्हें आपके एक परम प्रिय भक्त श्री ने निःश्वास के नाम से छपा दिया, इसके कई संस्करण हिन्दी में तथा अंग्रेजी में छप चुके हैं। यह छोटी-सी पुस्तक बहुत ही उपादेय है। इसके उपदेश सीधे हृदय पर चोट करते हैं। इसे हम फिर से छाप रहे हैं। मूल्य लगभग ३० पैसे।

व्यवस्थापक

विषय-सूची

गीता-माहात्म्य

[१३]

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥*

(श्री भग० गी० ९ अ० ३० ३२ श्लोक)

छप्पय

मेरो आश्रय लेइँ पाप योनिनि के प्रानी।
होवें चाहे नारि इन्द्र हत्या जिनि मानी ॥
अथवा होवे वैश्य अरथहित व्यग्र रहे नित।
होवें चाहें शूद्र रहें नित कामनि महँ रत ॥
वे हू मेरी शरन में, आवेंगे सुख पाइँगे।
परमागति कूँ प्राप्तकरि, जा जगतें तरि जाइँगे ॥

---

* चाहे कोई भले ही अत्यन्त दुराचारी ही क्यों न हो, यदि वह मुझे अनन्य भाव से भजता है, तो उसे साधु ही समझना चाहिये, क्योंकि वह भली प्रकार निश्चित मत वाला है ॥३०॥

हे पार्थ ! मेरी शरण में जो भी आ जाते हैं, वे ही परमगति को प्राप्त होते हैं, फिर वे चाहे पाप योनि वाले, स्त्री, शूद्र तथा वैश्य भी क्यों न हों ॥३२॥

यह जीव न जाने कब से इस चौरासी लाख योनियों के चक्कर मे घूम रहा है। किस जन्म में कौन-से पाप पुण्य उदय हो जायें, कुछ पता नहीं चलता। भीष्म पितामह ने श्रीकृष्ण से पूछा—'भगवन्! एक छोटा-सा काटा पैर में लग जाता है, तो उसी मे कितना कष्ट होता है, मेरे शरीर में तो नख से शिख तक बाण छिदे हैं। बाणों की शैया पर ही मैं पड़ा हूँ। सौ जन्मों की तो मुझे स्मृति है, उनमें तो मैंने कोई पाप किया नहीं। फिर यह किस पाप का परिणाम है?"

भगवान् ने कहा—"१०३ वें जन्म का स्मरण करो।"

भीष्म पितामह ने कहा—"हाँ, स्मरण आ गया, एक पतंगा की पाखों में बाल्यकाल की चपलता के कारण मैंने छोटे-छोटे कांटे छेद कर उसे छोड दिया था, उसी का यह परिणाम है।" कैसी विचित्र बात है, १०२ जन्मों में उस पाप का परिपाक नहीं हुआ। १०३ जन्मों के पश्चात् हुआ।

कभी-कभी कीट योनि में भी पुण्यों का उदय हो जाता है। महामुनि मैत्रेय बहुत पहले किसी जन्म में कीड़ा थे, भाग्यवश पूर्व जन्म के किसी पुण्य के उदय होने के कारण कीट योनि में भी उन्हें भगवान् वेदव्यास जी के दर्शन हो गये उनके उपदेश से रथ के पहिये के नीचे दबकर उन्होने प्राण छोड़ दिये और फिर वे क्रमशः कौआ, सियार, साही, गोहा, मृग, पक्षी, चांडाल और शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय आदि योनियों में होते-होते अन्त में कुपारु और मित्रा के पुत्र महामुनि मैत्रेय हो गये। कीट योनि में उन्होंने कौन-सा पुण्य किया था, भाग्यवश व्यास जी मिल गये और वे प्रत्येक योनि में जा-जा कर उन्हे उपदेश दे-देकर महामुनि की योनि तक पहुँचा गये।

वेश्या को भाग्यवश तोता मिल गया। उसे राम नाम पढ़ाते—

पढ़ाते ही तर गयी। एक डाकू को भाग्यवश सप्तर्षि मिल गये। उनके दर्शन न जाने किस जन्म के पुण्यों से हुए। उसका परिणाम यह हुआ कि वे डाकू से बाल्मीक ऋषि बन गये।

शबर जाति में उत्पन्ना शबरी के जन्मांतर के पुण्यों का उदय हो गया, कि विवाह के मंगलमय दिवस में घर द्वार छोड़कर मतंग मुनि की शरण में आ गयी और उन्हीं की कृपा से श्रीराम जी के उसे दर्शन हो गये और श्री राम ने बड़े-बड़े त्यागी, तपस्वी विद्वान, वृद्ध, ऋषि मुनियों को छोड़कर उसका आतिथ्य ग्रहण किया। पुराणों में ऐसी असंख्यों आख्यायिकायें भरी पड़ी हैं, जिन से पता चलता है, कि कभी-कभी घोर पापियों का भी किसी जन्म का पुण्य उदय हो जाता है, कि उन्हें भगवत् भक्तों का संग हो जाता है और उनके द्वारा उनकी मुक्ति हो जाती है, इसके विपरीत कभी महान् पुण्यात्माओं का भी किसी पूर्व जन्म का पाप उदय हो जाता है, जिसके कारण उन्हें अकारण कलंक लग जाता है, राज रोग हो जाता है पाप कर्मों में प्रवृत्ति हो जाती है। जीव स्ववश नहीं वह प्रारब्ध के अधीन होकर अवश बना भोगों को भोग रहा है। भगवान् जब कभी कृपा करते हैं, तब जीव का उद्धार हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मै आपको गीताजी के तेरहवें अध्याय का माहात्म्य सुनाता हूँ, जिसे शिव ने पार्वती जी से और भगवान् विष्णु ने लक्ष्मी जी को सुनाया था।

लक्ष्मी जी ने भगवान् से पूछा—"प्राणनाथ! मैने श्रीमद्-भगवत् गीता के बारह अध्यायों का माहात्म्य तो आपके श्रीमुख से श्रवण किया। अब मेरी इच्छा तेरहवें अध्याय के माहात्म्य सुनने की है, यदि कृपा करके आप मुझे तेरहवें अध्याय का मा [illegible] सुना [illegible] त मैं कृतार्थ हो जाऊं।

भगवान् ने कहा—"देवि ! श्रीमद्भगवत् गीता के तेरहवें अध्याय का नाम "क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विभाग योग है।" यह बड़ा ही विलक्षण अध्याय है इसका माहात्म्य भी अत्यन्त ही उपादेय है। इस अध्याय के पठन-पाठन तथा श्रवण करने से ही अक्षय फल की प्राप्ति होती है। इस अध्याय को ब्राह्मण, शूद्र, स्त्री अथवा पुरुष कोई भी श्रद्धा भक्ति के साथ सुनेगा, उसी को परम पद की प्राप्ति हो सकती है। इस सम्बन्ध में जो एक इतिहास है उसे मैं तुम्हें सुनाता हूँ, उसके श्रवण मात्र से ही पता चल जायगा, कि तेरहवें अध्याय के श्रद्धाभक्ति पूर्वक सुनने से ही पापी से पापी जीव का भी उद्धार हो सकता है।

लक्ष्मीजी से भगवान् विष्णु कह रहे हैं—"देवि दक्षिण दिशा में तुंगा और भद्रा नाम की दो नदियाँ है। उन दोनों का एक स्थान में संगम होता है। जब तक पृथक्-पृथक् बहती थीं, तब तक तो इनका दोनों का नाम पृथक्-पृथक् ही था। जब ये दोनों मिलकर–एक होकर–समुद्र की ओर जाने लगी तो इन दोनो का सम्मिलित नाम तुंग भद्रा हो गया। तुंग भद्रा नदी परम पावन है। इसी सरिद् प्रवरा तुंग भद्रा क किनारे हरिहर पुर नाम का एक बहुत रमणीय, सुंदर, मनमोहक परम पावन पुर था। उसमें हरिहर नाम से साक्षात् शिवजी ही विराजमान थे। इससे यह परम प्रसिद्ध शैव क्षेत्र था। उसी नगर में हरिदीक्षित नाम का एक श्रोत्रिय ब्राह्मण निवास करता था।

अच्छी स्त्री, अच्छी संतान, अच्छा सेवक अच्छे पशु ये सभी भाग्य से ही प्राप्त होते हैं। हरिदीक्षित ब्राह्मण इस अर्थ में भाग्यहीन ही था, उसे जो स्त्री मिली वह बहुत दुराचारिणी थी, वह सदा काम से संतप्त रहती। पति के प्रति उसका तनिक भी अनुराग नहीं था, पति का संस्पर्श उसे भाता नही था। उसने अपने

पति से कभी भी पत्नीपने का व्यवहार नहीं किया। वह काम वासना में विकल होकर सदा सर्वदा परपुरुषों से ही संसर्ग करती। वैसे वे ब्राह्मण उसके पति बड़े श्रोत्रिय थे, सदा तपस्या और स्वाध्याय में संलग्न रहते। वे वेदों के पारगामी थे, वेदों के पठन-पाठन तथा स्वाध्याय में ही उनका सम्पूर्ण समय व्यतीत होता। किन्तु उनकी स्त्री अत्यन्त व्यभिचारिणी थी। उसका नाम तो कुछ और रहा होगा, किन्तु उसके कुकृत्यों के कारण सब उसे दुराचारा-दुराचारा कहकर पुकारते थे। और वास्तव में वह दुराचारिणी थी भी।

पति से कुवाच्य बोलना, उससे सदा लड़ाई झगड़ा तकरार करना उसका नित्य का काम था। उसको कामज्वर इतना व्याप्त रहता कि कामोन्मत्त होकर निरन्तर चरित्र भ्रष्ट व्यभिचारी कामी पुरुषों के साथ रमण किया करती थी।

उसने बन में झाड़ी जङ्गलों में अपने लिये एक ऐकान्तिक संकेत स्थान बना रखा था। वहाँ व्यभिचारी पुरुषों को बुलाया करती और अपनी वासना की पूर्ति किया करती। एक दिन वह काम वासना से अत्यन्त ही पीड़ित होकर कामोन्मत्ता बनी अपने सांकेतिक स्थान में पहुँची। जिस कामी जार पुरुष को उसने बुलाया था, वह किसी कारण से वहाँ पहुँचा नहीं। वह अत्यन्त व्याकुलता से उसकी प्रतीक्षा करने लगी। वह काम वासना से इतनी सन्तप्ता थी, कि वह चारों ओर उन्मत्त की भाँति घूमने लगी। उसने सोचा—इस समय कोई भी कैसा भी पुरुष मुझे मिल जाय, उसी के द्वारा मैं अपनी वासना की पूर्ति कर लूँ, किन्तु उसके दुर्भाग्य से उस समय घोर वन में अर्धरात्रि के समय उसे वहाँ कोई भी पुरुष दिखायी नहीं दिया। अब तो वह व्याकुल होकर कुञ्ज के भीतर पड़ी-पड़ी छटपटाने लगी।

मैं एक ब्राह्मण कुमार था। दक्षिण दिशा में मलापहा नदी के तट पर मुनि पर्णा नाम की नगरी में मेरा जन्म हुआ था। वह नगरी परम पवित्र थी, उसमें पञ्चलिङ्ग नामके शिवजी का एक भव्य मन्दिर था, साक्षात् शकर भगवान् उसमें निवास करते।

मैं नाम मात्र का ही ब्राह्मण था। कर्म कांड के कुछ मन्त्र याद करके मैं धन की अभिलाषा से यात्रियों को ठगा करता था। नदी के किनारे अकेला बैठा रहता था कोई भी यज्ञ कराने आवे। फिर चाहें वह यज्ञ का अधिकारी हो या न हो, धन के लालच से मैं उसे दम्भ यज्ञ कराता। कोई भी अधिकारी अनाधिकारी मुझे भोजन करा दे उसी के अन्न को मैं प्रेम पूर्वक खा लेता। मेरा शरीर हृष्ट पुष्ट था। कोई भिखारियों को कुछ बांटने आता तो मैं बल पूर्वक भिखारियों को हटाकर उन्हें गालियाँ देकर भीतर घुस जाता, बाँटने वाला मुझे दे या न दे बल पूर्वक उसकी वस्तुओं को छीन लेता, और उन्हें भक्षण कर जाता मैं जो वेद पाठ करता उसके फल को भी धन लेकर बेच देता। जब न्याय से अन्याय से धन न मिलता तो किसी से ऋण के नाम से ही धन ले लेता और फिर उसे कभी भी नहीं देता। इस प्रकार युवावस्था में शारीरिक बल के प्रभाव से मैंने लोगों को बहुत ठगा। शरीर को बलशाली और पुष्ट बनाया। कालान्तर में मैं बूढ़ा हो गया। वृद्धावस्था के समस्त चिन्ह मेरे शरीर में व्याप्त हो गये। सम्पूर्ण शरीर में झुर्रियाँ पड़ गयी। बाल सभी सफेद हो गये, दांत गिर गये, नेत्रों की ज्योति जाती रही, कानों से कम सुनायी देने लगा। इतना सब होने पर भी मेरी धन की लिप्सा कम नहीं हुई। दान लेने की प्रवृत्ति में तनिक भी अन्तर नहीं पड़ा। मैं त्योहार पर्व आने पर हाथ में कुशा लेकर लठिया टेकते-टेकते नदी के किनारे जाता और जैसे भी झूठ बोल कर

दम्भ करके लोगों को जितना ठग सकता उतना ठगता।

एक बार मैं कुछ धूर्त ब्राह्मणों के यहाँ माँगने के निमित्त गया। उन्होंने कुछ दिया लिया तो नहीं किसी कुत्ते ने उसी समय मेरे ऊपर प्रहार किया और मुझे काट लिया। मैं मूर्छित होकर भूमि पर गिर गया। और कुछ ही क्षणों में मर गया। इसके अनन्तर मुझे यह भयावनी व्याघ्र योनि प्राप्त हुई। तब से इसी घोर अरण्य में निवास करता हूँ। किसी पूर्व जन्म के पुण्य के कारण मुझे अपनी पिछले जन्म की सब बातें स्मरण हैं। मैंने कैसे कुपात्रों से दान लिया। तीर्थ में अभक्ष पदार्थों को खाया। कैसे दूसरों को पीड़ा दी। इन सभी बातों को स्मरण करके मैं दुखी रहता हूँ। अब मैं धर्मात्मा, सदाचारी, महात्मा, साधु सन्तों को तथा सती साध्वी पति परायणा नारियों को नहीं खाता। जो पापी है, दुष्ट तथा दुराचारी पुरुष हैं, अथवा कुलटा व्यभिचारिणी, पर पुरुषरता स्त्रियाँ हैं उन्हें ही मार कर खाता हूँ, उन्हें ही अपना आहार बनाता हूँ। तू व्यभिचारिणी है, कुलटा है अतः तुझे खाकर आज मैं अपनी भूख को मिटाऊँगा। आज तू अवश्य ही मेरा आहार बनेगी।"

यह कहकर व्याघ्र ने उसकी देह के टुकड़े-टुकड़े कर डाले और उसके मांस को खाकर अपनी भूख शांत की। इधर व्याघ्र तो वन में चला गया। इस स्त्री को यम के दूत पकड़ कर ले गये। इसके पापों के अनुसार इसे नाना नरकों में विविध भाँति की यातनायें दी। कभी उसे रौरव नरक में पचाते रहे कभी दहनानन नरक में डालकर भयंकर यातना देते रहे।

कई मन्वन्तरों तक नरकों की अग्नि में पचते-पचते जब इसके पाप कुछ कम हुए तो इस महापापिनी को इस पृथ्वी पर भेज दिया। यहाँ चांडाल योनि में उसका जन्म हुआ। ज्यों ही इसे

युवावस्था प्राप्त हुई, तो पूर्व जन्मों के संस्कार वश इस चांडाल योनि मे भी यह व्यभिचारिणी हो गयी। निरन्तर व्यभिचार कराने से इसे राजयक्ष्मा रोग हो गया, फिर सम्पूर्ण शरीर में कुष्ट हो गया।

भाग्यवश भीख मांगती हुई यह पुनः अपने पूर्व निवास स्थान तुंगभद्रा के तट पर हरिहर पुर में आ गयी। वहाँ शिव जी के मन्दिर के समीप ही जम्भका देवी के नाम से पार्वती जी का मन्दिर था उस मन्दिर के बाहर पड़ी रहती। दया करके कोई यात्री इसे कुछ दे देता, तो उसी को खाकर यह अपना निर्वाह करती। उसी मन्दिर में एक वासुदेव नाम का ब्राह्मण रहता था। वह बड़ा ही सुशील सदाचारी तथा संयमी था। वह नित्य नियम से देवी जी के सम्मुख श्री मद्भगवत् गीता के "क्षेत्र क्षेत्रज्ञ योग" नामके तेरहवें अध्याय का पाठ किया करता था। यह कोढ़िनि उसके पाठ को सदा प्रेम से सुना करती और सुन-सुनकर परम प्रमुदित होती। निरन्तर के पाठ श्रवण करने से उसके समस्त कल्मष कट गये और वह चांडाल शरीर से मुक्त होकर दिव्य शरीर धारण करके स्वर्ग लोक में चली गयी।

भगवान् लक्ष्मी जी से कह रहे हैं—देवि! ऐसा है यह गीता जी का तेरहवां अध्याय यह मैंने तुमसे तेरहवें अध्याय का माहात्म्य सुनाया। अब चौदहवें अध्याय का माहात्म्य आगे सुनाऊँगा।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! यह तेरहवें अध्याय का माहात्म्य हुआ अब आपकी आज्ञा होगी तो मैं चौदहवें अध्याय का भी माहात्म्य सुनाऊंगा।

छप्पय

चाहे होवै बड़ो दुराचारी हू पापी।
अतिशय अघरम करत जगत जीवनि संतापी॥
यदि सोऊ तजि पाप भजे मोकूँ अनन्य है।
त्यागे अघरम सकल जगत में रहे धन्य है॥
साधु परम ताही गनो, सम्यक बुद्धि बनाइकें।
ताको निश्चय रहूँ अब, गोविँद के गुन गाइकें॥

गीता-माहात्म्य

[१४]

गीताचतुर्दशोऽध्यायः स्वर्गसोपानसंज्ञकः ।
पादपाठकपंकेन अज्ञोऽपि स्वर्गतिं लभेत् ॥*

(प्र० द० ब्र०)

छप्पय

अब गीता अध्याय चौदहवें को महातम सुनि ।
वन में बसि तिहिं पाठ करें नित वत्स महामुनि ॥
तिनि को हो इक शिष्य पाठ सो करै सदाँ ईं ।
धोये तानें पैर कीच थल भई तहाँ ईं ॥
नृप कुतिया ता में गिरि, शशक संग दोऊ मरे ।
दोऊ सुरपुर कूँ गये, दिव्य रूप धारन करे ॥

सब अंगों में सभी देवता बस गये । पैरों में कोई देवता नहीं बसा । भगवान् विष्णु को आने में कुछ देर हुई देवताओं से पूछा—"हम कहाँ बसें ?"

देवताओं ने कहा—"भगवन् ! अब तो सभी अंगों में भिन्न-

---

* गीता का चौदहवाँ अध्याय स्वर्ग की सोपान ही है । उसके पाठ करने वाले पाठक के धोये जल की कीच से अज्ञ पशुओं ने भी स्वर्ग लाभ किया ।

भिन्न देवताओं ने अधिकार जमा लिया। अब तो आपके लिये कोई अंग अवशेष रहा ही नहीं।"

भगवान् ने कहा—"कोई भी अंग तो शेष रहा होगा?"

देवताओं ने कहा—"भगवन्! समस्त उत्तमाङ्गों में भिन्न-भिन्न देवता आकर बैठ गये। अब सबसे निकृष्ट चरण ही रहे, जहाँ अभी तक कोई नहीं बैठा। केवल वही शरीर का सबसे अधम अंग अवशिष्ट है।"

भगवान् ने कहा—"हमारे लिये ऊँच नीच कुछ भी नहीं। हमारे लिये सभी अंग समान हैं। हम चरणों में ही रहा करेंगे।" तब से चरणों के अधिष्ठातृ देव विष्णु ही हो गये। इसीलिये छोटे लोग बड़ों के चरणों का स्पर्श करते हैं। प्रणाम करते समय कोई मस्तक नहीं छूता सब चरणों को छूते हैं। चरणों की धूलि को उठाकर ही मस्तक पर लगाते हैं। और की बात जाने दो। स्वयं साक्षात् भगवान् भी भक्तों के पीछे-पीछे इसी लोभ से फिरते रहते है, कि भक्तो की चरण धूलि उड-उड़कर मेरे मस्तक पर पड़ जाय, तो मै परम पावन बन जाऊँ।"

चरणो की बड़ी भारी महिमा है, धर्मराज के राजसूय यज्ञ में और सब ने तो बड़ी-बड़ी सेवायें लीं, किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्र जी ने यज्ञ में समागत ऋषि मुनि तथा ब्राह्मणों के चरण धोने की ही सेवा ली। इसी से उन्होंने अपने को कृतार्थ माना।

पवित्र पुरुषों के पादोदक को भी परम पावन माना है। शास्त्रों में कहा है—"जिस घर में भगवद्भक्त, परमपावन ब्राह्मणों के चरण धोने से कीच न हुई हो, जिस घर में स्वाहा-स्वाहा शब्द से हवन और स्वधा शब्द से पितरों का श्राद्ध तर्पण न हुआ हो उस घर को श्मशान के सदृश समझना चाहिये। गृहस्थ धर्म की सार्थकता इसी में है, कि घर में पधारे अतिथियों के

चरण धोने से वहाँ कीच हो, जहाँ अतिथि, देवता तथा पितर तृप्ति का अनुभव करें।

गङ्गाजी इतनी पवित्र क्यों मानी गयी हैं? इसलिये कि वे भगवान् विष्णु के चरणों का धोवन है। उनका पादोदक है। वे लोग धन्य है, जो नित्य ही विष्णु पादोदक तथा विप्र पादोदक को सिर पर चढाते हैं। जो पवित्र, शांत, दांत, तेजस्वी, तपस्वी, अनुष्ठानरत, वेदपाठी, कर्मकांडी, धर्मशास्त्रों का नित्य नियम से पारायण करने वाले हैं। उनके पादोदक पान से, उनके पाद धोवन की पंक को अंगों में लगाने से पापी से पापी पुरुष भी सुरपुर के अधिकारी बन जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं आपको श्रीमद्भगवत् गीता के चौदहवें अध्याय का माहात्म्य सुनाऊँगा, जिसे भगवान् विष्णु ने लक्ष्मीजी को तथा शिवजी ने पार्वतीजी को सुनाया था।"

भगवान् विष्णु लक्ष्मीजी से कहने लगे—"प्रिये! अब तुम श्रीमद्भगवत् गीता के चौदहवें अध्याय का माहात्म्य श्रवण करो।

महाराष्ट्र प्रदेश में प्रत्युदक नाम का एक महान् नगर था। उसी नगर में एक केशव नाम का ब्राह्मण निवास करता था, वह नाम का ही ब्राह्मण था, उससे कोई भी कुकर्म नही बचा था, जिसे वह न करता हो। वह कपटपूर्ण व्यवहार करने वाले पुरुषों में अग्रणी था। जैसा वह कपटी था, भाग्यवश उसे वैसी ही दुराचारिणी स्वच्छन्दगामिनी पापिनी पत्नी मिली थी। वह नित्य ही पाप कर्मों में रत रहती। उसका नाम विलोभना था।

यदि गृहस्थी को अपने अनुकूल सती साध्वी सदाचारिणी आज्ञानुवर्तिनी पत्नी मिल जाय, तो फिर स्वर्ग कहीं अन्यत्र नहीं है सती का घर ही स्वर्ग से बढ़कर बन जाता है। और जिसकी स्त्री कुलटा दुराचारिणी स्वच्छन्दगामिनी तथा कटुभाषिणी हो

और पति भी दम्भी क्रोधी तथा कपटी हो, तो वह घर नरक से भी बढ़कर दुखदायी है। वहाँ नित्य ही कलह का साम्राज्य छाया रहता है। केशव का घर भी कलह का आलय बना हुआ था। पति पत्नी में नित्य ही कलह होती, बात-बात पर लड़ाई होती। एक दिन केशव ने क्रोध में भर कर अपनी स्त्री को इतना मारा कि मारते-मारते उसके प्राण ही ले लिये। उसे मृतक बना दिया। वह मर कर कुतिया बनी। उसके किसी जन्म के कुछ पुण्य शेष थे, अतः वह कुतिया भी किसी दरिद्री की नहीं बनी राजा की कुतिया बनी, जहाँ उसे खाने पीने का कोई कष्ट नहीं था। वह राजा तथा राजपुत्रों के साथ आखेट में जाया करती थी।

कालान्तर में केशव भी मरा और मर कर वह एक घोर अरण्य में शशक–खरगोश–बना। वहाँ वह स्वच्छन्द होकर विचरता और झाड़ियों में रहता।

ब्राह्मण पत्नी विलोभना सिंहलद्वीप के राजा वेताल के यहाँ कुतिया हुई। सिंहलद्वीपाधि पति महाराज वेताल, सिंह के समान पराक्रमी समस्त कलाओं के भंडार तथा अपनी प्रजा का धर्म पूर्वक पालन करने वाले थे। एक दिन वे अरण्य में आखेट करने के लिये अपने भृत्य, आमात्य तथा राजकुमारों को साथ लेकर तथा दो कुतियों को भी संग लेकर बहुत दूर बन में गये। वे बन में पशु पक्षियों की खोज कर रहे थे, कि किसी झाडी में से एक शशक निकल कर भागा। राजा ने अपनी दोनों कुतियों को शशक के पीछे दौड़ाया। किन्तु शशक भी बड़ा बलवान् था, वह किसी भी प्रकार कुतियों के हाथ नहीं आया। शशक इतनी शीघ्रता से दौड़ रहा था, मानों आकाश में उड़ रहा हो। दौड़ते-दौड़ते वह एक ऋषि आश्रम के निकट पहुँच गया। बीच में यद्यपि वह एक गड्ढे में गिर गया था, किन्तु तुरन्त ही उठकर फिर

दौड़ने लगा, कुतिया उसे पकड़ न सकी। अब जब वह ऋषि आश्रम के संनिकट आ गया, तो उसका चित्त प्रफुल्लित हो उठा। ऋषि आश्रम का वातावरण परम शांत था, वहाँ स्वाभाविक वैर वाले जीव भी प्रेम पूर्वक हिल मिल कर रहते थे। हरिन वहाँ स्वच्छन्दता पूर्वक इधर से उधर निर्भय होकर घूम रहे थे। बहुत मृग शावक वृक्षों के नीचे बैठे आँखें बन्द करके जुगार कर रहे थे। कुछ हरिण वृद्ध ऋषियों की पीठ में अपना मस्तक रगड़ कर अपनी खुजली मिटा रहे थे, बंदर अपनी चंचलता का सर्वथा त्याग करके शांत भाव से वृक्षों पर बैठे थे, वे अपने आप टूट-टूट कर गिरे पके हुए आमों के तथा नारियल के फलों को खा रहे थे। सिंह शावक अपनी स्वाभाविक शत्रुता का परित्याग करके हाथियों के बच्चों के साथ क्रीड़ा कर रहे थे। मयूर सर्पों से प्यार कर रहे थे, सर्प भी निर्भय होकर उनकी पाँखों में घुसकर शयन कर रहे थे। वह महामुनि वत्स का रमणीक आश्रम था। वत्स मुनि निरन्तर श्रीमद्भगवत् गीता के चौदहवें अध्याय का श्रद्धा के साथ प्रेम पूर्वक पाठ किया करते और अपने शिष्यों को भी पाठ करने को प्रेरित करते रहते।

महामुनि का एक परम संयमी प्रधान शिष्य था। वह भी गुरु की भाँति निरंतर पाठ किया करता। उसकी कुटिया के पास ही एक स्थान था जहाँ ऋषि शिष्य अपने पैरों को धोया करता था। निरंतर के पैर धोने से वहाँ कीच हो गयी थी। उस शशक का पीछा एक कुतिया कर रही थी। शशक भागता हुआ उस मुनि के पैर धोने के स्थान में आ गया। वह अत्यन्त थक गया था, अतः मूर्छित होकर उस कीच में गिर पड़ा। कुछ काल तक तो वह जीवित रहा फिर तुरन्त मर गया। उसी समय दौड़ती हुई कुतिया भी वहाँ आ गयी, उसके शरीर में भी कीचड़ लग

गयी और वह भी वहाँ आकर मर गयी।

राजा बेनाल भी पीछे-पीछे घोड़ा दौड़ाता हुआ आ रहा था। उसने शशक तथा कुतिया को कीचड़ में मरा हुआ देखा। उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। उसने देखा शशक उस कीच के स्पर्श मात्र से दिव्य रूप धारण करके दिव्य विमान पर चढ़कर स्वर्ग की ओर जा रहा है, और वह कुतिया भी दिव्य देवाङ्गना का रूप धारण करके दूसरे विमान में बैठी हुई जा रही है।

समीप ही वत्स मुनि के शिष्य बैठे थे वे बैठे-बैठे कुतिया और शशक को देखकर हँस रहे थे। राजा ने जाकर मुनि शिष्य के चरणों में प्रणाम किया और पूछा—"ब्रह्मन्! यह परम शांति तपोमय पुण्यप्रद किस मुनि का आश्रम है? यहाँ इतनी शांति क्यों है, मैं देखता हूँ, यहाँ के पशु-पक्षी स्वाभाविक वैर छोड़कर प्रेम पूर्वक एक साथ रह रहे हैं। यह मेरी कुतिया मर कर देवांगना बनकर किस पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग जा रही है, और यह शशक भी किस पुण्य प्रताप से देवरूप रख कर दिव्य विमान में बैठकर स्वर्ग जा रहा है और आप इन दोनों को देखकर हँस क्यों रहे हैं?"

राजा के ऐसा पूछने पर ऋषि शिष्य ने कहा— 'राजन्! यह मेरे गुरुदेव महामुनि वत्स का आश्रम है, उनकी तपस्या के प्रभाव से ही यहाँ इतनी अधिक शान्ति है, वे महामुनि नित्य नियम से निरन्तर श्री मद्भगवत गीता के चौदहवें अध्याय का पाठ करते रहते है। इसी के प्रभाव से यहाँ के पशु-पक्षी अपना स्वाभाविक वैर भाव भूलकर एक साथ प्रेम से क्रीड़ा करते हैं। मैं उनका शिष्य हूँ, मैं भी गुरु आज्ञा से निरन्तर श्री मद्भ-गवत् गीता के चौदहवें अध्याय का जप करता रहता हूँ। इस स्थान पर मैं पैर धोया करता हूँ, इसी से यहाँ कीच हो गयी

है। यह आपकी कुतिया पूर्व जन्म में केशव ब्राह्मण की पत्नी थी। दोनों में परस्पर में बड़ा भारी द्वेष था। उस द्वेषवश ही केशव ने इसकी हत्या कर दी। अतः यह कुतिया हुई। केशव ही शशक बना। दोनों ही संयोगवश मेरे पैरों के जल की कीच में आकर मरे। आश्रम के शान्त वातावरण के प्रभाव से दोनों ने ही परस्पर में वैर भाव भुला दिया। और मैं गीताजी के चौदहवें अध्याय का निरन्तर जप करता हूँ, अतः मेरे चरणों की कीच के स्पर्श के प्रभाव से दोनों ही स्वर्ग के अधिकारी बन गये। यह सब श्री मद्भगवत् गीता के चौदहवें अध्याय के माहात्म्य का ही चमत्कार है।"

भगवान् कह रहे हैं—"सो, लक्ष्मी जी! शिष्य के मुख से श्रीमद्भगवत् गीता के चौदहवें अध्याय का माहात्म्य सुनकर राजा परमविस्मित हुआ उसने महामुनि वत्स के समीप जाकर चौदहवें अध्याय को विधिवत् पढ़ा और उसने भी नित्य नियम से उसका पाठ आरम्भ कर दिया इसके प्रभाव से राजा को भी परमगति की प्राप्ति हुई। यह मैंने चौदहवें अध्याय का माहात्म्य तुमसे कहा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने यह चौदहवें अध्याय का माहात्म्य आपसे जैसे भगवान् विष्णुजी ने लक्ष्मी जी से तथा श्री शिवजी ने पार्वतीजी से कहा वैसे आपके सम्मुख कह दिया। अब आप सावधानी के साथ पंद्रहवें अध्याय के पुरुषोत्तम योग का माहात्म्य मुझसे और श्रवण करें।

छप्पय

राजा पूछी बात वत्स मुनि शिष्य बताई।
ये पति पतिनी, रहे वैर इत गयो भुलाई॥
करूँ पाठ अध्याय चौदवों गुरु आयसु तें।
पाद पंक इस्पर्श तरे दोऊ ताही तें॥
सुनि प्रमुदित राजा भये, पाठ नियम तिनने करयो।
ताही के परभाव तें, गोखुरवत यह भव तरयो॥

अथ

चतुर्दशोऽध्याय

(१४)

परमोत्तम ज्ञान

[१]

श्री भगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥*

(श्री भ० गी० १४ अ० १, २ श्लो०)

छप्पय

पुनि बोले भगवान—पार्थ ! तू मेरो प्यारो ।
होवे कैसे सृष्टि गुननि गुन न्यारो-न्यारो ॥
अति उत्तम यह ज्ञान सबहिँ ज्ञाननि तैं उत्तम ।
परमज्ञान पुनि कहूँ मुक्ति साधन अति अनुपम ॥
जाकूँ मुनि जन जानिकें, मुक्त जगत तैं वे भये ।
सब जगके परपंच तजि, परम सिद्ध वे बनि गये ॥

---

* फिर श्रीभगवान् कहने लगे—"अर्जुन मैं फिर भी तुमसे ज्ञानों में उत्तम ज्ञान परमज्ञान को कहूँगा, जिसे जानकर सब मुनि गण संसार से विमुक्त बनकर परम सिद्धि को प्राप्त होते है ॥१॥"

इस ज्ञान को प्राप्त करके मेरे स्वरूप को प्राप्त हुए सृष्टि के आरम्भ में न तो उत्पन्न होते हैं और न प्रलय में व्यथित ही होते हैं ॥२॥

एक महात्मा थे, उन्होंने अपने एक जिज्ञासु भक्त को एक औषधि देकर कहा—"इस औषधि को खाना, साथ ही चावल मत खाना, रोटी ही खाना, क्योंकि रोटी ही अमृत है।"

जिज्ञासु ने ऐसा ही किया औषधि से उन्हें लाभ हुआ। फिर दूसरी बार वे रुग्ण हुए, तब महात्मा ने दूसरी औषधि देकर कहा—"देखो, रोटी मत खाना, केवल चावल खाना, चावल ही अमृत है।"

जिज्ञासु के मन में शंका हुई—"महात्माजी कभी तो रोटी को अमृत बताते हैं कभी चावल को। इनमें से अमृत कौन सा है।" तब आप ही आप उनके अन्तःकरण में समाधान हो गया—वास्तव में अन्न ही अमृत है, जो खाया जाय उसे अन्न कहते हैं (अत्तीति अन्नम्) खाने वाली सभी वस्तुएँ अमृत हैं। देश काल तथा पात्र के भेद से उनमें कोई वस्तु कभी अमृत का काम करती है, वही परिस्थिति वश विष बन जाती है।

इसी प्रकार ज्ञान तो मोक्षप्रद है ही। बिना ज्ञान के मुक्ति संभव नहीं, किन्तु देश काल और पात्र भेद से कोई ज्ञान का साधन किसी के अनुकूल पड़ता है वही परिस्थिति के अनुसार किसी को प्रतिकूल पड़ जाता है। जिस ज्ञान का-जिस साधन का-वर्णन करना हो पहिले जिज्ञासा बढ़ाने के लिये-रुचि उत्पन्न करने के निमित्त-उनकी यथेष्ट प्रशंसा करे, उसके माहात्म्य का वर्णन करे। माहात्म्य सुनने से उस विषय में सहज अनुराग हो जाता है और फिर उसे जानने सुनने की उत्कट इच्छा होने लगती है, अतः तीनों गुणों के सम्बन्ध में बताने के पूर्व भगवान् पहिले इस ज्ञान की प्रशंसा करते हैं। उसका माहात्म्य बताते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने उन तीनों गुणों के सम्बन्ध में जानना चाहा, जिनके संग के कारण जीव को सत्

असत् योनियों में उत्पन्न होना पड़ता है तो उसने जिज्ञासा की—"भगवन्! ये गुण कौन-कौन से है, उन गुणों के लक्षण क्या है और वे प्राणियों को कैसे बांधते हैं। फिर इन गुणों से छुटकारा कैसे पाया जा सकता है, जीव कैसे गुणातीत बन सकता है?"

इस पर भगवान् ने कहा—"अर्जुन! तुमने यह बहुत ही सुन्दर प्रश्न किया। गुणों का ज्ञान और उन गुणों के बन्धनों से निर्मुक्त होकर परमपद को प्राप्त कर लेना वास्तव में यही तो ज्ञान है, यही समस्त ज्ञान के साधनों में सर्वोत्तम परमज्ञान-साधन है। वैसे तो मैं तुमसे पीछे गुणों के सम्बन्ध में बता चुका हूं, किन्तु आगे पीछे का सम्बन्ध जुटाने के निमित्त-पुनः स्मरण दिलाने के लिये मै इस विषय को फिर से तुमसे कहता हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—"प्रभो! कैसा है यह ज्ञान?"

भगवान् ने कहा—"जो मै तुमसे ज्ञान का साधन कहूँगा, वह ज्ञान के समस्त साधनों में से सर्वोत्तम ज्ञान साधन है।"

अर्जुन ने पूछा—"उसे जान लेने से क्या होगा? इसके जान लेने का फल क्या है?"

भगवान् ने कहा—"उसे जान लेने पर मुक्ति मिल जाती है, परम पद की प्राप्ति हो जाती है।"

अर्जुन ने कहा—"इस ज्ञान साधन के द्वारा किसी को मुक्ति मिली भी है?"

भगवान् ने कहा—"एक ने नहीं अनेकों ने सभी ने इसी से मुक्ति प्राप्त की है, जितने भी मुनि जन मुक्त हुए हैं उन सब मुनियों ने इसी को जानकर उत्तम सिद्धि-अर्थात् मुक्ति प्राप्त की है।"

अर्जुन ने पूछा—"उसका स्वरूप क्या है ?"

भगवान् ने कहा—"देखो, जीवों को जन्म के समय बहुत कष्ट सहना पड़ता है, मृत्यु काल में भी असह्य वेदना होती है। जब सृष्टि काल आरंभ होता है, तब सभी जीव जो कल्प के अन्त में ब्रह्माजी की रात्रि के समय ब्रह्माजी के शरीर में लीन हो गये थे, वे पुनः उत्पन्न हो होकर अपने-अपने कर्मों को भोगने में पुनः उद्यत हो जाते हैं, सर्ग के आरम्भ में उत्पन्न होकर कष्ट भोगते हैं। प्रलय काल में भी जीवों को बड़ी व्यथा होती है। प्रलय काल में पहिले तो अनेकों वर्षों तक वृष्टि होती है, समस्त जीव जल-मग्न हो जाते हैं, सातों समुद्र एक हो जाते हैं, फिर सूर्य उग्रताप से तपते हैं सब जल को सोख लेते है, फिर भयंकर वायु चलती है, इस प्रकार प्रलयकाल में भी जीवों को महान् व्यथा होती है। नित्य ही सर्ग और प्रलय है। जन्म लेना सर्ग है, मृत्यु प्रलय है। जन्म मृत्यु अज्ञान के कारण होती है। जो इस ज्ञान का आश्रय ले लेते हैं, वे मेरे साधर्म्य को प्राप्त कर लेते हैं। जैसे मैं जन्म मृत्यु से रहित हूँ, वैसे ही वे मेरे शरणापन्न जीव जन्म मृत्यु से रहित बन जाते है। वे सर्ग होने पर उत्पन्न नही होते और प्रलयकाल में व्यथित नही होते।"

अर्जुन ने पूछा—"प्रभो ! सभी जीव प्रकृति पुरुष के संयोग से होते हैं पुरुष के वीर्य को स्त्री अपने गर्भाशय में धारण करती है, तब शिशु का जन्म होता है, यहाँ समस्त भूतों की उत्पत्ति में गर्भ का आधान कौन करता है और गर्भाशय कौन है ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का जो भगवान् उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

तोड़ देउँ जो ज्ञान बड़ोई सुखकर सुंदर।
जाको आश्रय लेत मिटै चौरासी चक्कर॥
जिनने धारन कर्यो ज्ञान यह अद्‌भुत अनुपम।
मम स्वरूप कूँ प्राप्त भये साधक बहु उत्तम॥
सृष्टि आदि में फेरि वे, नहीं जनम धारन करैं।
प्रलयकाल में व्यथित नहिँ, बनि विमुक्त जगतैं तरैं॥

प्रकृति योनि में भगवान् गर्भाधान करते हैं

[२]

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥*
(श्री भग० गी० १४ अ० ३, ४ श्लो०)

छप्पय

भारत ! जो है महत् ब्रह्म सो प्रकृति कहावै ।
वही जगत को मूल योनि भूतनि कहलावै ॥
वही गरभ इस्थान गरभ मैं करि इस्थापन ।
सब चेतन समुदाय वीर्य मेरो अति पावन ॥
जड़ चेतन संयोग तैं, जीव चराचर होहिँ सब ।
हौं सबको साक्षी सदा, जग माता-पितु सुनहु अब ॥

---

* हे अर्जुन ! मेरी जो महत् ब्रह्म रूपा प्रकृति है, वह गर्भस्थली है, उसमें मैं गर्भ को स्थापन करता हूँ, उससे सभी प्राणियों की उत्पत्ति होती है ॥३॥

हे कौन्तेय ! सब योनियों में जो मूर्तियाँ बनती हैं, उन सबकी त्रिगुणमयी प्रकृति योनि है, मैं बीज स्थापित करने वाला पिता हूँ ॥४॥

यह संसार को सृष्टि द्वैत के बिना संभव नहीं। दो मिलकर ही सृष्टि होती है। रज और वीर्य का जब पात्र में आधान होता है, तभी गर्भ की वृद्धि होती है। जगत् की जितनी भी ८४ लाख योनियाँ हैं, उनमें तभी वृद्धि होगी जब उनमें स्वामी वीर्य का आधान करेगा। गर्भ की स्थापना करेगा। जब तक मैथुनी सृष्टि आरम्भ नहीं हुई थी, उसके पूर्व संकल्पीय सृष्टि थी। ऋषि संकल्प करते थे, कि हमारे पुत्र हो, तुरन्त संकल्प करते ही पुत्र हो जाता था। किन्तु इस संकल्पीय सृष्टि में आकर्षण नहीं था, मोह ममता तथा वासना नहीं थी। इसीलिये ब्रह्माजी की इच्छानुसार सृष्टि की वृद्धि नहीं हुई। तब तो ब्रह्मदेव चिंतित हुए तब उन्होंने नारी की रचना की, जिससे सृष्टि की वृद्धि हुई। स्त्री और पुरुष इन दोनों को—मिथुन-जोड़ा कहते हैं। योनि आधार है वीर्य आधेय है। जैसे घृत को पात्र दोना आदि में रखते है। दोनों में प्रमुखता तो वीर्य की ही है, इसीलिये न्यायालयों में, हाटों में, बाटों में सर्वत्र यही पूछा जाता है—"तुम्हारा क्या नाम हैं? तुम्हारे पिता का क्या नाम है? माता का नाम कोई नहीं पूछता। यही बात आकाश वाणी ने भी कही थी।

महाराज दुष्यन्त ने महर्षि कण्व के आश्रम में महर्षि की अनुपस्थिति में उनकी पालिता पुत्री शकुन्तला से गान्धर्व विधि से विवाह करके वहीं वन में उसके गर्भाधान किया था। राजा के चले आने के पश्चात् कालान्तर में शकुन्तला ने एक पुत्र रत्न को उत्पन्न किया। जो विश्वविख्यात चक्रवर्ती महाराजा भरत हुए जिनके नाम से इस देश का नाम भरत खण्ड हुआ।

राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला का पाणिग्रहण करके विदा होते समय उसे आश्वासन दिया था, कि शीघ्र ही मैं तुम्हें बुलाने को सेना सहित अपने मंत्री को भेजूँगा, किन्तु बहुत दिनों तक राजा

ने कोई खोज खबर ही नहीं ली, कोई संदेश तक नहीं भेजा, तब महर्षि कण्व ने अपने शिष्यों के साथ पुत्र सहित शकुन्तला को महाराजा दुष्यन्त के यहाँ भेज दिया।

भरी सभा में जब शकुन्तला ने राजा से कहा—"मेरे साथ आपने कण्वाश्रम में गान्धर्व विवाह किया था, मैं आपकी धर्म पत्नी हूँ, यह आपके वीर्य से उत्पन्न आपका पुत्र है, इसे आप ग्रहण करें।" इस पर राजा ने स्पष्ट शब्दों में मना कर दिया कि मैं तुम्हें जानता तक नहीं। तुम असत्य बोल रही हो, न जाने तुम किसके पुत्र को लाकर मेरा पुत्र बता रही हो। उस समय सबको सुनाई देने वाली आकाशवाणी हुई। उस वाणी का कोई वक्ता नहीं दीखता था, वाणी आकाश से आ रही थी और सबको सुनाई दे रही थी, आकाशवाणी ने कहा—"पुत्र उत्पन्न करने में माता तो केवल लुहार की धौंकनी के समान है। वास्तव में पुत्र तो पिता का ही होता है। क्योंकि स्वयं पिता ही अपने आप पुत्र बनकर प्रकट होता है। इसलिये राजन्! तुम शकुन्तला का अपमान मत करो। इस अपने पुत्र का भरण पोषण करो। वंश की वृद्धि करने वाला सत् पुत्र अपने पिता को नरक से उबार लेता है। शकुन्तला का कहना सर्वथा सत्य है। तुमने इस गर्भ का आधान किया है।"

वास्तव में माता का गर्भाशय तो एक थैली मात्र है, उसमें जो गर्भ धारण कराता है, वीर्य स्थापित करता है, उस पिता की ही प्राधान्यता है। वही पालक उत्पादक तथा जनक कहलाता है। इस जगत् को भगवान् ही उत्पन्न करते हैं इसीलिये वे परम पालक सबके उत्पादक स्थावर जंगम के जनक तथा जगत् पिता कहलाते हैं। प्रकृति में वे ही गर्भ स्थापित करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने समस्त भूतों को

उत्पत्ति में कारण कौन है, ऐसी जिज्ञासा की तो भगवान् ने कहा—"उत्पत्ति तो माता और पिता दोनों के संयोग से होती है।"

इस पर अर्जुन ने पूछा—"इस जगत् के पिता कौन हैं?"

भगवान् ने कहा—"इस सम्पूर्ण चराचर जगत् का एकमात्र पिता तो मैं ही हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—"आपके गर्भ स्थापन का स्थान भी तो कोई होगा?"

भगवान् ने कहा—"हाँ, अवश्य, गर्भस्थापन स्थान के बिना गर्भाधान कैसे हो सकता है। जिसे प्रकृति कहते है, कोई उसे महान् भी कहते हैं, जो महत् ब्रह्म के नाम से भी कही जाती है वही मेरा गर्भ स्थापन का स्थान–योनि–है। उसी में मैं गर्भ स्थापित करता हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—"उससे उत्पन्न कौन होता है?"

भगवान् ने कहा—"हे भारत! उसी गर्भ के द्वारा समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है।"

अर्जुन ने पूछा—"उस वीर्य से मनुष्यों की ही उत्पत्ति होती है, या अन्य योनियों वाले जीवो की भी?"

भगवान् ने कहा—"तुम संसार में जितनी भी मूर्तियों को देख रहे हो, सुन रहे हो। समस्त योनियों में जितने भी संस्थान हैं, आकृतियाँ हैं–उनकी योनि महद्ब्रह्म अर्थात् प्रकृति ही है। और उस प्रकृति के गर्भस्थापन स्थान में केवल मै अकेला ही वीर्य स्थापन करने वाला पिता हूँ। देवता, पितर, मनुष्य, पशु, पक्षी, मृग, सरीसृप, वृक्ष, लता गुल्म जितने भी जरायुज, अण्डज, स्वेदज उद्भिज आदि आकृतियाँ हैं, संस्थान हैं, शरीर हैं उनकी माता तो प्रकृति, महतब्रह्म है। और बीज प्रदाता पिता मैं

परमेश्वर हूँ। इन दोनों के संयोग से ही स्थावर, जंगम, चर, अचर, जड, चैतन्य सभी की उत्पत्ति है। इन समस्त जीवों को तीनो गुण ही जकड़े हुए है। इसी मे ये जीव बंधे रहते हैं, माया के जाल से मुक्त नहीं होती। प्रकृति के तीनों गुण ही बंधन का कारण हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! ये तीनों गुण जीवों को कैसे बाँधे रहते हैं। इन गुणों में प्राणी का संग किस प्रकार हो जाता है ये जीव को किस कारण से फँसाते है, उन गुणों के नाम और उनके कार्य मुझे बताइये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! गुणों के सम्बन्ध में इतने प्रश्न करने पर श्रीभगवान् क्रमशः इन सभी प्रश्नों का जैसे उत्तर देंगे, पहिले गुणों का नाम बताकर, फिर जिस प्रकार ये गुण जीवों को बाँधते है उनका वर्णन जैसे भगवान् करेंगे, उस कथा प्रसंग को मैं आगे वर्णन करूँगा, आशा है आप एकाग्रचित्त करके इस गूढ़ ज्ञानमय प्रसंग को प्रेम पूर्वक सुनने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

जग में नाना मूर्ति प्रकृति तिनकी है माता।
प्रकृति कौन, को पुरुष, जथारथ जानें ज्ञाता॥
सब योनिनि में भिन्न भिन्न आकृति तनुधारी।
प्रकृति माँहि उत्पन्न होहिं जननी तिनि प्यारी॥
महद्‌योनि ता प्रकृति में, बीरज थापन करि बसत।
माता वह तो पिता हौं, वीर्य प्रदाता सब कहत॥

तीनों गुण और सत्त्व का बन्धन

[३]

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥❀
(श्री भ गी० १४ अ०, ५,६ श्लो०)

छप्पय

देहनि में जो जीव आतमा चेतन देही।
बन्धन तें वह रहित जथारथ है नहिं गेही॥
अव्यय ताको रूप बाँधि ताकूँ गुन लेवैं।
प्रकृति पुत्र गुन तीनि संग ताको कर लेवैं॥
तीनिहु रज, तम, सत्व जा, बाँधत देही देह में।
ममता तब फिरि करतु है, सुत दारा अरु गेह में॥

❀ हे महाबाहो! सत्व, रज और तम ये तीनों गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं, ये ही गुण अविनाशी देही को देह में बाँधते हैं ॥५॥

हे अनघ! इनमें से सत्वगुण प्रकाशक तथा निर्दोष है। मल रहित होने के कारण सुख की आसक्ति और ज्ञान की आसक्ति में बाँधता है ॥६॥

तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। जब काल क्रम से गुण साम्य न रहकर असाम्य बन जाते हैं, तब वे गुण पृथक्-पृथक् हो जाते हैं, प्रकृति में विकृति होने पर ही गुण अपना काय करने लगते हैं। गुण कहते हैं रज्जु को, डोरी को। रस्सी का काम होता है, बाँधना। बन्धन रस्सी से ही होता है। जैसी रस्सी होगी वैसा ही बन्धन भी होगा। यदि रस्सी रेशम की है, तो उसका बन्धन मृदु सुख स्पर्श वाला तथा सरल होगा। यदि रस्सी सूत की है, तो उसका बन्धन रेशम की अपेक्षा कठोर दृढ़ तथा कर्कश होगा। उसका स्पर्श दुख मिश्रित सुखद होगा उसमें अपेक्षा कृत कठोरता होगी और यदि रस्सी मूँज की काँस की अथवा दाम की हुई, तो उसका बन्धन अत्यन्त कठिन दुखद और परम दृढ़ होगा। बन्धन चाहे रेशम का हो, सूत का हो अथवा मूँज का हो, बन्धन तो बन्धन ही है। इसीलिये साधकों के समस्त प्रयत्न गुणातीत होने के ही निमित्त होते हैं। गुण तो बन्धन के ही कारण हैं। अतः इन गुणों से परिचित होना अत्यावश्यक है, कौन-सा गुण किस प्रकार बाँधता है, गुणातीत होने के लिये इसे समझना अनिवार्य है। इसीलिये भगवान् ने गुणत्रय विभाग योग का वर्णन किया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने गुणों के सम्बन्ध में कई प्रश्न किये, तब भगवान् क्रमशः सबका उत्तर देते हुए सर्वप्रथम गुणों का परिचय कराते हैं—भगवान् ने कहा—"हे महाबाहो! जिनकी बाहुएं छोटी होती हैं, दुर्बल होती हैं, वे बन्धन को तोड़ नहीं सकते, किन्तु तुम तो विशाल और बलवान् बाहुओं वाले हो, तुम्हारे लिये बन्धन क्या कर सकता है। तुम तो अव्यय हो देह नहीं, देही हो ये सब गुण तुम्हारा क्या बिगाड़ सकते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! सब गुण कौन-कौन से हैं ?"

भगवान् ने कहा—"गुण तीन हैं, उनके नाम सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण ये ही हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"क्या ये गुण पुरुष से उत्पन्न होते हैं ?"

भगवान् ने कहा—'नहीं भैया, पुरुष तो अव्यय है, अनादि और निर्गुण है, शरीर में भले ही रहता भी है, फिर भी वह अक्रिय बना रहता है। ये गुण प्रकृति से उत्पन्न होने वाले है।"

अर्जुन ने पूछा—"इन गुणों का कार्य कौन-सा है ?"

भगवान् ने कहा—"हे महाबाहो! इन गुणों का काम बांधना है। ये गुण ही निर्विकार देही को देह में बांध देते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"निर्विकार देही को ये गुण शरीर में कैसे बांध लेते हैं।"

भगवान् ने कहा—"यह देह तो प्रकृति का कार्य भूत और इन्द्रियों का संघात मात्र है। भ्रम वश निर्विकार होने पर भी अपने को विकारवान्-सा अनुभव करने लगता है, गुणों के कारण ही अपने को बन्धनयुक्त अनुभव करने लगता है।"

अर्जुन ने पूछा—"कौन-सा गुण किस संग के द्वारा देही को बांधता है ?"

भगवान् ने कहा—"तीनों गुणों में सत्त्व गुण उत्तम है, रजो गुण मध्यम है और तमोगुण अधम है। सर्व प्रथम सत्त्व गुण को ही ले लीजिये। इन तीनों गुणों में सत्त्व गुण अधिक निर्मल है। निर्मल होने के कारण इसका बन्धन सुखद होता है और ज्ञानमय तथा प्रकाशमय होता है। आमय अर्थात् दुखद न होकर सुख की अभिव्यक्ति करने वाला होता है। यह सत्त्व गुण जीव को बांधता तो अवश्य है, किन्तु अन्धकारमय नहीं बना

देता प्रकाशमय बन्धन है और सुखद बन्धन है। सुख और ज्ञान के संग से बाँधता है। तमोगुण के कारण जो अन्धकार का आवरण छा जाता है, उस अवरण को हटाने वाला प्रकाश प्रदान करने वाला है। यह ज्ञान को ढकता नहीं चैतन्य को प्रकाशित कर देता है, इसी कारण सत्त्व गुण को श्रेष्ठ कहा गया है। हे निष्पाप! तुम तो पाप रहित हो, अनघ हो।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! आपने जो रजोगुण को मध्यम बताया वह देही को किस प्रकार बांधता है? और तमोगुण जो अधम गुण है, वह किस प्रकार बाँधता है?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् अब जैसे रजोगुण और तमोगुण के सम्बन्ध में बतावेंगे, उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

प्रकृति पुत्र ये तीनि अधम कोई है उत्तम।
बाँधे निज-निज रूप अधम उत्तम अरु मध्यम॥
इनि तीननि महँ सत्त्व परम निरमल प्रकाशमय।
अधिक न रहे विकार स्वच्छ अति सुघर अनामय॥
वह बाँधत सुख संग तैं, कोमल रेशम रज्जु तैं।
अरजुन! तू निष्पाप है, और ज्ञानके संग तैं॥

रज और तम प्राणियों को कैसे बाँधते हैं?

[४]

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥*

(श्री० भा० गी० १४ अ० ७, ८ श्लो०)

छप्पय

श्रेष्ठ सतोगुन कह्यो रजोगुन छोटो भाई ।
वैसो निरमल नहीं करै बन्धन चतुराई ॥
राग रूप रज कह्यो चित्त कूँ अति रँगि देवै ।
तृष्णा अरु आसक्ति बाँधि तिनितैं वह लेवै ॥
कुन्तीनन्दन ! रजोगुन, बाँधत जीवहिँ शक्ति तैं ।
बन्धन ताको सुदृढ़ अति, करमनि की आसक्ति तैं ॥

---

* हे कौन्तेय ! रजोगुण को तुम रागरूप तृष्णा और आसक्ति से उत्पन्न समझो । वह देही को कर्म सग से बाँधता है ॥७॥

हे भारत ! सभी प्राणियों को मोहित करने वाला तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न हुआ जानो । वह प्रमाद, निद्रा, और आलस्य से बाँधता है ॥८॥

यह संसार रूप एक नदी है, इसमें जल रूप यह जीव है। जीव स्थिर है शान्त है, अगमनशील है। जब जल में गुण रूप प्रवाह आ जाता है, तो जल गतिशील हो जाता है, चलने लगता है, बहने लगता है, उसमें क्रिया होने लगती है। तालाब मे जहाँ प्रवाह नही वहाँ वह शान्त गम्भीर स्थिर बना रहता है। गुणों का प्रवाह ही जल में गति प्रदान करता है। सत्व गुण में और तमोगुण में गति नहीं। सत्व को और तम को ऊपर से देखने मे गति एक सी ही है। सत्वगुण सम्पन्न व्यक्ति भी बिना कर्म किये शान्त बैठा रहेगा और तमोगुणी भी कर्मों में विशेष रत नही रहेगा, ऊपर से देखने में दोनों में कोई अन्तर प्रतीत न होगा, किन्तु सत्वगुण वाला ज्ञान के कारण प्रकाश के कारण मल रहित होने से शान्त गम्भीर तथा स्थिर रहेगा। तमोगुणी अज्ञान के कारण, मल के कारण आलस्य में प्रमाद में अथवा निद्रा में निमग्न होने से निष्क्रिय बना बैठा रहेगा। इन दोनों का विशेष कार्य रत होने का स्वभाव नही।

कर्मों में विशेष प्रवृत्ति तो रजोगुण द्वारा ही होती है, इसी-लिये सत्वगुण के अधिष्ठातृ विष्णु सृष्टि रचना में प्रवृत्त नहीं होते और तमोगुण के अधिष्ठातृ देव रुद्र भी सृष्टि रचना में मन नहीं लगाते। ये जो रजोगुण के अधिष्ठातृ देव ब्रह्मा हैं, इन्हें ही सृष्टि की रात्रि-दिन चिन्ता लगी रहती है, कैसे सृष्टि बढ़े, कैसे ससार चक्र चलता रहे, वे रात्रि दिन इसी के लिये प्रयत्नशील बने रहते हैं। रज कहते हैं राग को। जिसके द्वारा अकर्ता पुरुष विषयों के रंग में रँग कर बासना युक्त बन जाय, उसे विषयों के भोग की स्पृहा उत्पन्न हो जाय। ससार को प्रवा-हित करने वाला रजोगुण ही है। इसीलिये साधक को सर्व प्रथम तो आलस्य प्रमाद और निद्रा आदि तमोगुणी प्रवृत्तियों पर

विजय प्राप्त करके सत्कर्मों में प्रवृत्त होना चाहिये और फिर सत्कर्मों में प्रवृत्त होने पर भी उनके फल की आशा न रखना चाहिये। कर्म करना कोई बुरा नहीं हैं, केवल कर्म करना ही बन्धन का कारण नहीं है। प्राणी बँधता तो तब है जब कर्म करके उसके फल की स्पृहा हो। कर्म फल में आसक्ति होने से उस विषय में मन अनुरञ्जित हो जाता है। फल की इच्छा या स्पृहा ही दृढ़तर रज्जु को तैयार करती है। उसी में प्राणी बँध जाता है। अतः भगवत् भक्ति के निमित्त किये हुए कर्म बन्धन के कारण नहीं होते। जो भी कुछ कर्म करे उसे भगवत् अर्पण कर दे। उन कर्मों को प्रभु प्रीत्यर्थ ही करे। भगवान् के निमित्त जो कर्म होते हैं उनके फल को भगवान् भोगते हैं वे संसारी कामना-इच्छा-अथवा स्पृहा नहीं उत्पन्न करते, वे राजोगुण के भी कर्म नहीं कहाते। वे कर्म तो निर्गुण कर्म हैं, क्योंकि निर्गुण परमात्मा के निमित्त किये गये हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने 'रजोगुण और तमोगुण पुरुष को किस प्रकार बाँधता है', यह प्रश्न किया, तो उसका उत्तर देते हुए भगवान् कहने लगे—'हे कुन्ती तनय! रजोगुण को तुम रागात्मक जानो।"

अर्जुन ने पूछा—"रागात्मक क्या ?"

भगवान् ने कहा—"रागात्मक माने रँगा जाना अर्थात् जिस के द्वारा पुरुष विषयों में रँगा जाय उसे राग कहते हैं। उसी का नाम स्पृहा है। काम, इच्छा, गर्व ये भी राग के ही नाम हैं। इसकी संतानें हैं एक तृष्णा और दूसरी आसंग।"

अर्जुन ने पूछा—"तृष्णा किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"जो वस्तु हमारे पास नहीं है या कम है उसे प्राप्त करना अधिकाधिक बढ़ाने की इच्छा करने को तृष्णा

कहते हैं। यह तृष्णा अधिकाधिक बढ़ने वाली होती है, यह कभी वृद्धा नहीं होती, सदा तरुणी बनी रहती है। दूसरी सन्तान है आसङ्ग।"

अर्जुन ने पूछा—"आसङ्ग किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"जो वस्तुएँ प्राप्त हो गयी हैं वे हमारे ही पास सुरक्षित रहें, उन्हें कोई दूसरा लेने न पावे। इस प्रकार प्राप्त वस्तु के संरक्षण की इच्छा को आसङ्ग कहते हैं। इस प्रकार रजोगुण से तृष्णा और आसङ्ग ये दो उत्पन्न होते हैं।"

अर्जुन ने पूछा— 'रजोगुण बाँधता कैसे है ?"

भगवान् ने कहा—कर्मों में प्रवृत्ति का कारण रजोगुण ही है। अतः रजोगुण से जब विषयों में आसक्ति हो जाती है, तो विषय भोगों को संग्रह करने की इच्छा होती है आस-पास दूसरे भी विषयासक्त पुरुष हैं, तो यह आशंका मन में बनी ही रहती है, कि ऐसा न हो मेरी उपभोग की वस्तुओं को कोई दूसरा ले जाय, अतः दूसरों से सचेत रहना पड़ता है। जिसे मैंने पुरुषार्थ से पैदा किया है, उसका उपभोग भी मैं ही करूँ। इस प्रकार कर्मों में संग या आसक्ति बढ़ जाती है। सदा कुछ न कुछ करते रहो और उनके फलों को भोगते रहो ऐसा अभिनिवेष हो जाना ही बंधना है। कर्मों की आसक्ति ही रजोगुण का बन्धन है। मैं कर्मों का कर्ता और फल का भोक्ता हूँ इसी प्रकार के अहंकार से रजोगुण बाँध लेता है।"

अर्जुन ने पूछा—"तीसरा तमोगुण कैसे बाँधता है।"

भगवान् ने कहा—जैसे सत्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है रजोगुण से विषयों में लोभ बढ़ता है उसी प्रकार तम से मोह बढ़ता है। ये तमोगुण अज्ञान जनित है। यह तमोगुण ही

समस्त प्राणियों को मोहित करने वाला है। इसके भी तीन सन्तानें हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"तमोगुण की तीन सन्तानें कौन-कौन सी हैं ?"

भगवान् ने कहा—"तमोगुण की सन्तानों का नाम है निद्रा; आलस्य और प्रमाद।"

अर्जुन ने पूछा—"निद्रा क्या ?"

भगवान् ने कहा—सत्वगुण से प्रकाश होता है, सद् असद् का विवेक होता है ज्ञान होता है, रजोगुण कर्मों में प्रवृत्त करता है। निद्रा में न तो ज्ञान तथा विवेक रहता है और न कर्मों में प्रवृत्ति ही होती है। मन घोर अज्ञान में लीन हो जाता है इसी अज्ञान जन्य सुषुप्ति का नाम निद्रा है।"

अर्जुन ने पूछा—"आलस्य किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"कर्मों में प्रवृत्त न होने की इच्छा को आलस्य कहते हैं। कर्तव्य कर्मों में प्रवृत्त न होकर असमर्थ बने पड़े रहने का नाम आलस्य है। यह रजोगुण का कार्य जो प्रवृत्ति है, उसका विरोधी है।"

अर्जुन ने पूछा—"प्रमाद किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"जिससे विवेक और प्रकाश न होकर अविवेक और अन्धकार हो उसका नाम प्रमाद है। सन्ध्या-वन्दन नित्य नैमित्तिक कार्य करते हैं, प्रमादवश उनका स्मरण हो न करना अन्धकार में पड़े-पड़े असमर्थ की भाँति समय बिताते रहना यही प्रमाद है, यह प्रमाद सत्त्वगुण के जो ज्ञान और प्रकाश गुण हैं उनका विरोधी होता है। इस प्रकार तमोगुण निद्रा आलस्य और प्रमाद रूपी अपनी सन्तानों द्वारा सत्त्वगुण

तथा रजोगुण दोनों के कार्यों का विरोधी होता हुआ प्राणियों को अज्ञान रूपी रस्सी से बाँध लेता है।"

अर्जुन ने पूछा—"ये गुण प्राणियों को किस-किस कार्य में लगाते है, और सब गुण साथ ही कार्य करते हैं या एक दूसरे को दबाकर अपना कार्य करते हैं ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन के पूछने पर भगवान् जैसे उसके प्रश्न का उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

तम है तीसर पुत्र क्रूर अति ही अज्ञानी।
बाँधे जीवनि बहुत बड़ो मूरख अभिमानी॥
अभिमानी जो देह तिनहिँ अति मोहित करिकें।
पैदा यह अज्ञान भाव तैं होवै घिरिकें॥
रस्सी जाकी तीनि हैं, बाँधत जीवहि तिनहिँ तैं।
भारत ! पहिले नींद तैं, आलस और प्रमाद तैं॥

कौन सा गुण देही को किस कार्य में लगाता है ?

[५]

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्माणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥*

(श्री. भा० गी० १४ अ० ६, १० श्लो०)

छप्पय

तीनिहु गुन के काज तीनि हीं वेद बताये ।
निज स्वभाव अनुकूल काज करि पुरुष फँसाये ॥
बढ़ि जावै गुन सत्त्व पार्थ ! तो सुख उपजावै ।
है जावै आधिक्य रजोगुन करम करावै ॥
बढ़ै तमोगुन तुरत हीं, सब ज्ञानहिँ ढकि लेत है ।
बदले में वह पुरुष कूँ, नित प्रमाद कूँ देत है ॥

---

* हे भारत ! सत्त्वगुण सुख में प्रवृत्त करता है, रजोगुण कर्म में लगाता है और तमोगुण ज्ञान को ढककर प्रमाद में प्रेरित करता है ॥६॥

हे भारत रजोगुण, तमोगुण को ग्रच्छादित करके सत्त्व की वृद्धि करता है, तथा रजोगुण सत्त्व को दबा कर तमोगुण को बढ़ाता है । इसी प्रकार तम और सत्त्व को दबाकर रजोगुण बढ़ता है ॥१०॥

जैसे शरीर में वात, पित्त और कफ तीनों ही सदा रहकर जब शरीर की रक्षा करते हैं। तब ये गुण कहाते हैं और ये ही जब प्रकुपित हो जाते हैं, तो इनकी दोष संज्ञा हो जाती है, वैसे ही शरीर धारण के लिये सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण आवश्यक हैं, किन्तु जब दो गुणों को दबाकर एक गुण प्रबल हो जाता है, तो शरीर में उसी की प्राधान्यता मानी जाती है, उस समय प्राणी उसी गुण के वशीभूत होकर उसी गुण के समान कार्य करने लगता है। ऐसा कोई शरीर नहीं जिसमें सत्त्व, रज तथा तम ये तीनों गुण न हों। देश, काल, पात्र तथा अन्यान्य परिस्थियों के अनुसार गुण घटते-बढ़ते रहते हैं।

कोई तो जन्मजात सत्त्वगुण वाले, रजोगुणी अथवा तमोगुणी प्रकृति के होते हैं। सत्त्वगुण प्रधान पुरुषों के शरीर में रजोगुण तथा तमोगुण न रहता हो, सो भी बात नहीं। सब शरीरों में सर्वदा तीनों ही गुण विद्यमान रहते हैं, किन्तु जिस गुण का प्राधान्य रहेगा, उसी गुण वाला वह व्यक्ति कहलाता है। तमोगुणी सदा तमोगुण ही प्रधान बना रहे सो भी बात नहीं, देश, काल, पात्र, आहार तथा परिस्थितियों के कारण विपर्यय भी हो जाते हैं।

जैसे कोई घोर तमोगुणी या रजोगुणी है, किसी पुण्य पवित्र देश में साधु सन्तों के स्थान में चला जायगा, तो उस देश की पवित्रता का पावनता का उस पर प्रभाव पड़ेगा। उसके सत्त्व की वहाँ देश के प्रभाव से वृद्धि होगी, रज तम दब जायँगे।

इसी प्रकार प्रातःकाल में प्रायः चित्त की वृत्ति सत्त्व प्रधान रहती है, मध्यान्ह में रजोगुण प्रधान और सायकाल में तमोगुण प्रधान हो जाता है। इसी प्रकार विशेष-विशेष पर्वों पर विशेष-विशेष व्रतों के काल में गुण विपर्यय हो जाते हैं।

संग के प्रभाव से भी प्रकृति में परिवर्तन हो जाता है। कोई तमोगुणी या रजोगुणी पुरुष है। किसी साधु संत महात्मा का संग हो गया, उसका रज तम दब जाता है सत्व का उदय हो जाता है।

गुणों का प्रभाव अन्न के कारण भी बदल जाता है। जैसा खाय अन्न वैसा बने मन। शुद्ध सात्त्विक न्यायोपार्जित बने अन्न से, भगवत् प्रसादी अन्न से बुद्धि सात्त्विकी हो जाती है, रज प्रधान अन्न भोजन से रजोगुणी तथा तमोगुणी अन्न खाने से बुद्धि तमोगुणी बन जाती है। इस विषय के अनन्त उदाहरण हैं।

एक बड़े सत्वगुण प्रधान महात्मा थे। वे एक धनिक के यहाँ जाया आया करते थे। वह धनिक अन्न की तस्करी करता था। राज्य के अधिकारियों से मिलकर उन्हें उत्कोच-घूँस-देकर अन्न चुरा लाता इससे उसे लाखों की आय होती थी। एक दिन उसके यहाँ चोरी के चावलों की खीर बनी। उन महात्मा ने भी वह खायी। इससे उनकी लोभ वृत्ति जागृत हुई। लोगों की आँख बचाकर दश सहस्र रुपये चुरा लाये। लाकर अपनी कुटिया में रख दिये।

इधर धनिक के यहाँ रुपयों की ढुढ़ाई हुई। सेवक भृत्य तथा अन्यान्य लोगों पर सन्देह हुआ। सेवकों को डराया धमकाया जाने लगा। महात्माजी पर तो किसी का सन्देह ही नहीं था।

प्रातःकाल जब वह चोरी का अन्न शौच मार्ग से निकल गया। शौच स्नान से निवृत्त होकर उषःकाल-अमृत काल-में जब वे भगवान् के भजन में बैठे तो सत्वगुण की वृद्धि के कारण उनकी बुद्धि शुद्ध हुई। वे सोचने लगे—हाय! मैंने कैसा अनर्थ किया! इस धनिक के घर के लोग मेरे ऊपर कितना विश्वास रखते हैं। मैंने उनके साथ कैसा विश्वासघात किया। मैं निष्किंचन

विरक्त साधु, मैं इन रुपयों को लेकर क्या करूँगा, धन तो प्रायः अनर्थ का ही कारण होता है, चोरी का यथार्थ अपराधी मैं हूँ, वहाँ सेवकों भृत्यों आदि को दंड दिया जा रहा होगा।

इन विचारों के आते ही, वे भजन से उठ पड़े रुपये लेकर सीधे सेठ के समीप पहुँचे। वहाँ सेवकों पर मार पड रही थी। महात्माजी ने कहा—"अरे, भाई इन निरपराध सेवकों को क्यों मारते हो, मुझे मारो यथार्थ चोर तो मैं हूँ,' यह कहकर उन्होंने पूरे रुपये सेठ को दे दिये।"

सेठ ने कहा—"स्वामीजी हम तो आपको बहुत दिनों से जानते हैं, आप तो महान् त्यागी, निर्लोभी निश्किञ्चन और सत्व गुण प्रधान हैं। आप ऐसा कार्य कदापि नहीं कर सकते।"

महात्मा ने कहा—"मैंने आज तक तो जीवन में ऐसा कार्य कभी किया नहीं। कल आपके यहाँ भोजन करने के पश्चात् मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी। प्रतीत होता है, उस अन्न में ही कोई दोष होगा।"

सेठ ने स्वीकार किया, वह अन्न चोरी का था। इस प्रकार अन्न दोष के कारण भी वृत्ति बदल जाती है। गुण विपर्यय हो जाते हैं।

एक महात्मा भजनानंदी सत्व प्रधान थे, इन्द्र सैनिक का वेष बदल कर उनके यहाँ एक खड्ग रख गये। न्यास हरण के दोष के कारण वे उसे सदा पास रखते। निरन्तर शस्त्र के संग से उनकी वृत्ति रजोगुणी हो गयी वे हिंसक बन गये।

स्थान का भी प्रभाव बहुत शीघ्र पड़ता है, वहाँ के व्याप्त प्रबल परमाणु प्राणो की वृत्ति को बदल देते हैं। एक बहुत ही सात्विक प्रकृति के गृहस्थ थे। उन्होने एक भवन क्रय किया। वे जब उस भवन में जाते तो उनकी, बकरा काटने मांस खाने की

इच्छा होती। भवन के बाहर आने पर उन्हें पश्चाताप होता। पीछे जब उन्होंने पता लगाया, तो पता चला पहिले यहाँ वध-शाला थी। बकरे काटे जाते थे। उसके परमाणु अब भी वहाँ के वायुमंडल में व्याप्त थे। इसी से उसमें जाते ही उनकी वृत्ति बदल जाती।

इस प्रकार सत्व, रज तथा तम इन तीनों गुणों के प्रवाह निरन्तर पुरुष की वृत्ति को बदलते रहते हैं। जिस गुण का जो कार्य होता है, पुरुष उस गुण के अधीन होकर वैसा ही कार्य करने लगता है, वैसी ही उस समय उसके चित्त की वृत्ति बन जाती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने तीनों गुणों के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त करने की जिज्ञासा की, तब भगवान् ने कहा—"अर्जुन! इन तीनों ही गुणों का अपना-अपना स्वाभाविक व्यापार है। जैसे कार्य करोगे उनमें उस गुण की अधिकता रहेगी। जैसे भोगों की इच्छा है, उनकी प्राप्ति के लिये पुरुष दुःख सहकर अथक परिश्रम कर रहा है। किसी कारणवश उसके अन्तःकरण में रज और तम को दबाकर सत्वगुण की अभिवृद्धि हो गयी, तो उन दुःखद कर्मों से विरक्ति हो जायगी। हृदय में एक स्वाभाविक शांति का अनुभव होने लगेगा। क्योंकि सत्वगुण का स्वभाव देहियों को सुख में संलग्न करने का है।"

अर्जुन ने पूछा—"जिस प्रकार बढ़ा हुआ सत्वगुण जीव को सुख में लगाता है, उसी प्रकार बढ़ा हुआ रजोगुण किसमें लगाता है ?"

भगवान् ने कहा—"रजोगुण की अभिवृद्धि होने पर भोगों को भोगने की तथा लोभ की इच्छा होती है। भोगों को प्राप्त

करने के लिये कर्म करने पड़ते हैं, अतः बढ़ा हुआ रजोगुण कर्मों के करने में प्रवृत्त करता है।"

अर्जुन ने पूछा—"सत्त्व तो सुख में और रज कर्मों में लगाता है, बढ़ा हुआ तमोगुण प्राणियों को किसमें लगाता है?"

भगवान् ने कहा—"तमोगुण, ज्ञान, प्रकाश तथा कर्मों का द्वेषी है, अतः वह ज्ञान को ढककर प्राणियों को प्रमाद में प्रवृत्त कराता है। जिसे जानना चाहिये उसे जानने नहीं देता। जो करना चाहिये उसे करने नहीं देता। निद्रा आलस्य और प्रमाद की ओर प्रेरित करता है।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! गुण तो तीनों ही पुरुष के शरीर में है। क्योंकि यह शरीर ही त्रिगुणमय है, फिर इसमें कभी सत्त्व का, कभी रज का और कभी तम का उत्कर्ष कैसे हो जाता है?"

भगवान् ने कहा—"ये तीनों गुण साम्यावस्था में कभी नहीं रहते। साम्यावस्था में होने से तो सृष्टि ही समाप्त हो जायगी। सब गुण मूल प्रकृति में मिल जायँगे। ये गुण एक दूसरे को दबाकर ही उत्कर्ष को प्राप्त होते हैं। निर्धनों को ही दबाकर धनिक बड़े धनिक बनते हैं। कभी कोई गुण बढ़ जाता है, कभी कोई। जब एक गुण बढ़ जाता है, तो दूसरे दो निर्बल बन जाते हैं।"

अर्जुन ने कहा—"यही तो मैं पूछता हूँ। किस गुण को दबाकर कौन-सा गुण प्रबल बन जाता है?"

भगवान् ने कहा—"जैसे सत्त्वगुण उत्कर्ष को प्राप्त कब होगा; जब रजोगुण और तमो को दबाकर—उन्हें निर्बल बनाकर अपना प्राधान्य स्थापित कर लेगा। उस समय देही—पुरुष को चारों ओर प्रकाश दिखायी देने लगेगा, ज्ञान की वृद्धि होने लगेगी और सुखानुभूति होने लगेगी।"

अर्जुन ने पूछा—"तमोगुण का उत्कर्ष कब होगा ?"

भगवान् ने कहा—"इसी प्रकार जब रजोगुण और सत्त्वगुण को दबाकर तमोगुण की अभिवृद्धि होगी, तब पुरुष न कर्मों में प्रवृत्त होगा न जानने की जिज्ञासा होगी। निद्रा, आलस्य और प्रमाद के वशीभूत होकर पड़ा रहेगा।

अर्जुन ने पूछा—"रजोगुण का उत्कर्ष कब होगा ?"

भगवान् ने कहा—"वही सिद्धान्त रजोगुण में भी लगालो। जब सत्त्वगुण और तमोगुण दोनों को दबाकर रजोगुण की अभिवृद्धि हो जायगी। तब इसे मार उसे दबा, यह कर, वह कर इस प्रकार कर्मों के करने में अधिकाधिक प्रवृत्ति बढ़ेगी।"

अर्जुन ने पूछा—"हम कैसे जाने कि इस समय कौन से गुण की वृद्धि हो रही है। तीनों गुणों की अभिवृद्धि के कृपा करके लक्षण बता दीजिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के पूछने पर अब भगवान् जसे तीनो गुणों की वृद्धि के लक्षण बतावेंगे, उस कथा प्रसंग को मै आगे वर्णन करूँगा।"

छप्पय

तीनिहु गुन नित रहैं किन्तु जब द्वै घटि जामें।
बढ़ि जावै, तब एक गुनी नर सो कहलामें॥
रज तम गुन दबि जायँ सत्त्व गुन तब बढ़ि जावै।
ऐसेई तम सत्त्व घटैं तब रज अधिकावै॥
आई क्रम तै सत्त्वगुन, और रजोगुन दबत हैं।
तब बढ़ि जावै तमोगुन, त्रिगुन घटत अरु बढ़त हैं॥

गुणों की अभिवृद्धि के लक्षण

[६]

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥*

(श्री भग० गी० १४ अ० ११, १२, १३ श्लोक)

छप्पय

कैसे जानें कौन बढ़ि रह्यो गुन अब हमरो ।
का का लच्छन तासु मिटाओ संशय सगरो ॥
होवै जब परकाश देह में भीतर बाहर ।
छिटकै मुख पै कान्ति लगै सबई जग सुखकर ॥
होहि मुदित अन्तःकरन, ज्ञान विवेक बढ़ै सतत ।
तब जानो अब देह में, सत्व सुखद पर गुन बढ़त ॥

---

* जब शरीर के सभी द्वारों में प्रकाश और ज्ञान उत्पन्न हो, तब ऐसा जानो कि सत्वगुण बढ़ रहा है ॥११॥

हे अर्जुन ! जब लोभ, प्रवृत्ति, कर्मों का आरम्भ, मन चांचल्य और

समस्त प्राणी तीनों गुणो के अधीन हैं, तीनों गुणों की प्रेरणा मे ही हम समस्त कार्यों को करते हैं। गुणों की प्रेरणा न हो, तो कोई सृष्टि का कार्य ही न हो। सब कुछ रुक जाय। संसारी लोगो के समस्त कार्य त्रिगुण वृत्ति ही द्वारा संचालित होते हैं। सबका अन्तर्यामी जो शरीर को अधिष्ठान बनाकर घट-घट में बैठा हुआ है, वह जैसे स्वप्न का साक्षी रहता है, वैसे ही गुणों का भी साक्षी रहता है। वह जानता है, इस समय जीव किस गुण के अधीन होकर कार्य कर रहा है, किन्तु जानते हुए भी हम उस समय उसे रोकने में समर्थ नहीं हो सकते। जैसे सोते समय सुषुप्ति अवस्था का साक्षी प्राज्ञ अनुभव करता है मै सुख पूर्वक सो रहा हूँ, स्वप्नावस्था का साक्षी तैजस् अनुभव करता है, मै स्वप्न देख रहा हूँ। जागने पर कहते है, आज तो बड़ी ही गहरी मीठा नीद आयी, आज तो मैंने विचित्र स्वप्न देखा। किन्तु सोते समय या स्वप्नावस्था में उस समय का साक्षी जीव कुछ कर नहीं सकता। जो साक्षी होता है, वह अभियोग में भाग नहीं ले सकता। इसी प्रकार जब जैसे गुण की वृत्ति हो जाती है उसका साक्षी तो अन्तःकरण स्थित जीवात्मा रहता है और वह अनुभव भी करता है कि इस समय अमुक गुण बढ़ रहा है, किन्तु उस समय वह वैसी ही वृत्ति के अधीन हो जाता है, पीछे गुण विपर्यय होने पर भले ही उसके लिये पश्चात्ताप करे।

सत्त्वगुण की वृद्धि की मोटी पहिचान प्रकाश और ज्ञान है। सत्त्वगुण को वृद्धि होने पर विषय वासनाओं से विराग होने

भोगलालसा ये सब बढ़ी दिखायी दें, तो समझो रजोगुण बढा है ॥१२॥

हे कुरुनन्दन ! जब अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह ये सब उत्पन्न हों, तो समझो तमोगुण बढ गया है ॥१३॥

लगता है, सभी इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण की वृत्तियाँ सात्विक भाव में अपना ठीक-ठीक कार्य करने लगती हैं, किसी वस्तु को अनुचित मार्ग से लेने की इच्छा नहीं उत्पन्न होती। परोपकार करने की भावना उत्पन्न होती है जो वस्तु अपने पास है, उससे दूसरों की सहायता करने का मन होता है। किसी के प्रति क्रोध के भाव नहीं आते। सबसे मधुर भाषण करने का मन होता है, अपने अपकार करने वाले के प्रति भी द्वेष के भाव उत्पन्न नहीं होते। संसार की सभी घटनायें सुखद प्रतीत होती हैं, चित्त में प्रसन्नता अथवा आह्लाद उत्पन्न हो जाता है। ये भावनायें तथा और भी ज्ञानमय प्रकाशमय भावनायें उठने लगें, तब समझो सत्वगुण की वृद्धि हो रही है।

रजोगुण में विषयों के प्रति लोभ और कर्म करने की उत्कट अभिलाषा इन दो भावों की प्रबलता रहती है। मेरा भवन सुंदर से सुंदर हो, उसमें सुख की सभी सामग्रियाँ समुपस्थित हों। सुंदर शैया, सुखद अनुपम आसन, चित्र विचित्र प्रकार के वस्त्र, सुन्दर से सुन्दर आभूषण, ठाट बाट हो। भोजन सुन्दर हो, बहु प्रकार का हो, उसमें तड़क-भड़क नमकीन चरपरा विशेष हो, अनेक प्रकार के साग, मांस आदि हों, सर्वत्र आज्ञा पालक भृत्य हों, जितना भी धन प्राप्त होता है, उससे अधिकाधिक धन की अभिलाषा बढ़ती रहे। इसे यक्षवित्त कहते हैं। यक्षवित्त की एक कहानी है।

एक राज सेवक था, वह सात्विकी प्रकृति का था। उसे जो भी वेतन मिलता, उससे वह परम सात्विकता से जीवन व्यतीत करता। उसमें से लोगों को यथा शक्ति दान भी देता, परोपकार भी करता और धार्मिक कार्यों में भी व्यतीत करता। इस प्रकार

उसका जीवन सात्विक ढंग से बड़े आनन्द के साथ व्यतीत हो रहा था।

एक दिन वह घोर वन में चला गया। वहाँ एक यक्ष चिल्ला रहा था, ये ६ सुवर्ण से भरे हुए पात्र हैं, इन्हें जो चाहे सो ले जाय। इसके मन में लोभ हुआ कि इन्हें ले चलो किसी अच्छे काम में लग जायेंगे। "इस भावना से वह छऊ सुवर्ण पात्रों को यक्ष से ले आया। घर में आकर उसने वे छऊ पात्र रख दिये। ५ पात्र तो भरे हुए थे। एक आधा था। अब उनके मन में यह बात आई, कि यह पात्र भी किसी प्रकार भर जाय, तो हमारे पास ६ भरे हुए सुवर्ण पात्र हो जायँ।"

लाभ से तो लोभ बढ़ता ही है। उसकी स्त्री ने भी उसकी बात का अनुमोदन किया। अब दोनों ने मिलकर सोचा—"यह घड़ा कैसे भरे।" स्त्री ने कहा—"भोजन में कम से कम व्यय किया करेंगे। और आप जो लोगों की सहायता कर देते हैं, बहुत साधन देवता, पितर, ऋषि, अतिथि, भाई बन्धु कुटुम्बियों के नाम से जो व्यय कर देते हैं, उसे बन्द करके उससे बचे धन को भी इसी में भरते चलो। थोड़े दिनों में यह पात्र भर जायगा।"

अब तो ऐसा ही किया जाने लगा। पहिले जो रोटी, दाल, साग, फल फूल, दूध, दही सहित सुंदर भोजन बनता था। वह बन्द हुआ। सूखी रोटी, नमक से या सूखी दाल से खाने लगे। पूजा पाठ, श्राद्ध, तर्पण, दान धर्म सब बन्द। जो कुछ बचे उसे 'घर गुल्लक में' किन्तु वह गुल्लक ऐसी थी, कि भरती ही नहीं थी। कितना भी उसमें डालते चलो उसकी पूर्ति ही नहीं होती थी। जब वह रिक्त पात्र बहुत प्रयत्न करने पर भी न भरा तो उसने राजा से प्रार्थना की–मेरा वेतन बढ़ा दिया जाय। राजा उसके सात्विक भाव से दान, धर्म, पूजा पाठ से प्रभावित थे। उसका वेतन

दुगुना कर दिया। फिर भी वह पात्र खाली ही रहा, भरा ही नहीं। तब उसने राजा से पुनः वेतन बढ़ाने की प्रार्थना की। राजा को अब संदेह हुआ। उसने पूछा—"तुम्हारा वेतन दुगुना तो कर दिया, अब तुम वेतन बढ़वा कर क्या करोगे, ऐसी कौनसी आवश्यकता आ गयी।"

तब उसने कहा—"महाराज, मेरा एक सुवर्ण पात्र है उसे भरना है। मैंने सब कटौती करके उसे भरना चाहा परन्तु वह भरता ही नहीं। न जाने उसमें कितना वित्त समावेगा।"

राजा ने कहा—"वह एक पात्र नहीं ६ पात्र थे।"

सेवक ने कहा—"अन्नदाता! आप सत्य कह रहे हैं ६ पात्र ही हैं। ५ तो भरे हुए हैं। एक खाली है उसे भरने को हम ने खाना पीना, पूजा पाठ धर्म मे व्यय होने वाला सब धन बन्द कर दिया फिर भी वह भरता नही। इसी को भरने के लिये मै आप से बार-बार वेतन वृद्धि की प्रार्थना करता हूँ।"

राजा ने कहा—"वे ६ घड़े तुम्हें वन में मिले होंगे। यह यक्ष का वित्त है। जब मैं वन में गया था, तब उस यक्ष ने मुझसे भी इस धन को लेने को कहा था, किन्तु यक्ष का धन समझकर मैंने उसे नहीं लिया। अब तुम उसे तुरन्त जाकर लौटा आओ। नहीं तुम्हारी दुर्गति होगी। पांच इन्द्रियों के स्वामी इस छटे मन रूपी पात्र में चाहें जितना धन डालते जाओ चाहें सम्पूर्ण संसार की विषयभोग की सामग्रियों को डाल दो। यह भरने का नहीं। तुम इस यक्ष वित्त को तुरन्त जाकर लौटा आओ। इसी में कल्याण है।"

--राजा की आज्ञा मानकर वह सेवक तुरन्त छेऊ सुवर्ण पात्रों को वन में जाकर यक्ष को लौटा आया। फिर उसका भोजन सुंदर बनने लगा। देवता, ऋषि, पितर तथा अतिथियों का सत्कार

होने लगा। धर्म कर्म में व्यय होने लगा। यह यक्ष वित्त क्या है? लोभ ही है। इसीलिये भागवतकार ने कहा है—

देवर्षिपितृभूतानि ज्ञातीन् बन्धूंश्च भागिनः।
असंविभज्य चात्मान यक्षवित्तः पतत्यधः॥

जो देवता, पितर, ऋषि, अन्य प्राणियों, जाति भाई कुटुम्बियों तथा और भी अतिथि आदि भागीदारों को बिना खिलाये उनका भाग बिना निकाले–जो अकेला खा जाता है, उस यक्ष-वित्त वाले पुरुष का अधः पात होता है, उसकी अधोगति हो जाती है। लोभ तथा तृष्णा ऐसा पात्र है, कि यह कभी भरता ही नहीं।

तमोगुण में काम करने की इच्छा और आलस्य में पड़े रहना इसकी प्रधानता रहती है।

दो आलसी एक ग्राम के बगीचे में सो रहे थे। उधर से एक घुड़सवार निकला। उनमें स एक आलसी ने उसे पुकारा। घोडा वाला समीप आ गया, तो उसने बोला—'आप घोड़े से नीचे उतर कर मेरी एक बात सुन लीजिये।"

घोड़ा वाला भला मानुष था, उतर पड़ा और पूछा—"कहो क्या बात है।"

उस आलसी ने कहा—"यह जो पास में पका आम पड़ा है, उसे मेरे मुख में निचोड़ दीजिये।"

हँसकर घोड़े वाले ने कहा—"अरे, भाई! तुम तो बड़े आलसी हो, तुमसे पास में पड़ा आम उठाकर चूसा भी नहीं जाता।"

यह सुनकर दूसरा आलसी बोल उठा—"अजी, पूछो मत महाराज! यह बड़ा ही आलसी है। कल एक पका आम मेरे मुख में गिर गया। उसका रस मैं चूस गया। मेरे सब मुख पर

रस लग गया। रात्रि भर मेरे मुख को कुत्ता चाटता रहा। मैं इससे बार-बार कहता—"तनिक कुत्ते को भगा दो, सो महाराज! यह उठा ही नहीं। कुत्ता चाटता ही रहा।"

उस घुड़सवार ने हँसकर कहा—"तुम तो इसके भी गुरु निकले।"

अकर्मण्यता और आलस्य में पड़े रहना यही तमोगुण का लक्षण है। यही तीनों गुणों की विशेषता है। भगवान् ने इसी का वर्णन अर्जुन से किया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने तीनों गुणों के पृथक्-पृथक् लक्षण पूछे, तो भगवान् ने कहा—"जब जो गुण चढ़ जाता है तो उसी के लक्षण प्रकट होने लगते हैं।"

अर्जुन ने कहा—"अच्छा, जब सत्त्वगुण की वृद्धि होती है, तब कौन-कौन से लक्षण प्रकट होते है?"

भगवान् ने कहा—"अर्जुन! यह शरीर भोग भवन है। जीवात्मा इसी में भोगों को भोगा करता है। जिस समय सभी इन्द्रियों में-जो विषय भोगों की उपलब्धि के साधन हैं उनमें-प्रकाश उत्पन्न हो जाय। अर्थात् विषय भोगों की अनित्यता प्रकट होने लगे। यह अनुभव होने लगे कि ये विषय भोग क्षणभंगुर हैं नाशवान् हैं अनित्य है। ऐसे ज्ञान होने पर मन में प्रसन्नता हो, सरल, सादा, धार्मिक जीवन बिताने की इच्छा उठे। तभी जानना चाहिये कि अब सत्त्वगुण की वृद्धि हुई है।"

अर्जुन ने पूछा—"अच्छा, रजोगुण की वृद्धि में कौन-कौन से लक्षण प्रकट होते हैं?"

भगवान् ने कहा—"रजोगुण की वृद्धि में सबसे पहले तो लोभ उत्पन्न होता है।"

अर्जुन ने पूछा—"लोभ क्या?"

भगवान् ने कहा—"अधिकाधिक भोगों की–कभी भी तृप्ति न होने की–इच्छा को लोभ कहते है। जितना प्राप्त हो जाय, उससे अधिक की ओर इच्छा उत्पन्न हो जाय उसी का नाम लोभ है। फिर कर्म करने में प्रवृत्ति होती है।"

अर्जुन ने पूछा—"प्रवृत्ति किसे कहते है ?"

भगवान् ने कहा—"सतत प्रयत्न करते रहने की इच्छा का ही नाम प्रवृत्ति है। इस काम को ऐसे करने पर यह फल मिल जायगा। यों करने पर इसमें अधिक लाभ हो जायगा। ऐसी ऊहापोह निरंतर मन में उठती रहें यही प्रवृत्ति है। प्रवृत्ति के साथ ही साथ उन-उन कर्मों को आरंभ भी करदे।"

अर्जुन ने पूछा—"कर्मों के आरंभ का अर्थ क्या ?"

भगवान् ने कहा—"जैसे सुंदर भवन बनाने की प्रवृत्ति हुई, तो तुरंत ईंटा, पत्थर, चूना आदि जुटाना। जैसे हो तैसे उचित अनुचित उपायों से भावना बन जाय, वैसे ही कार्यों को आरंभ कर देना यही कर्मारंभ कहाता है। कार्यारंभ के साथ ही अशम बढ़ जाय।"

अर्जुन ने पूछा—"अशम किसे कहते हैं।"

भगवान् कहा—"अशम कहते है इच्छाओं को शमन-दमन-न करने को जैसे भवन बनाने को कार्यारंभ कर दिया। अभी भवन बना भी नहीं है फिर भी सोचने लगते हैं, भवन बनते ही एक सुंदर तालाब और बनवाऊँगा, उसमें कमल लगवाऊँगा, उसके सामने एक बगीचा लगवाऊँगा। इस प्रकार एक के पश्चात् दूसरा दूसरे के पश्चात् तीसरा ऐसे संकल्प करते ही जाना। संकल्पों का प्रवाह रुके नहीं अविच्छिन्न रूप से चलता ही रहे इसी का नाम अशम है। अशम के पश्चात् स्पृहा होती है।"

अर्जुन ने पूछा—"स्पृहा का क्या लक्षण है ?"

भगवान् ने कहा—"बलवती कामना का ही नाम स्पृहा है, जैसे हमने भवन बनाया, उसके सामने एक वाटिका बनाने की इच्छा है, उसमें किसी का घर बाधक है। उस घर को साम, दान, दंड भेद किसी भी प्रकार से हथिया लेने का ही नाम स्पृहा है। किसी पर कोई अच्छी वस्तु देखी, किसी पर थोड़ा या बहुत धन देखा, उसे येन केन प्रकारेण अपना बना लेने की कामना को स्पृहा कहते हैं। लोभ, प्रवृत्ति, कर्मों का आरंभ, अशम और स्पृहा रजोगुण की वृद्धि हो जाने पर ये सब लक्षण प्रकट हो जाते हैं। ये जब बढ़ने लगें तब समझो रजोगुण बढ़ गया है।"

अर्जुन ने पूछा—"तमोगुण की वृद्धि के कौन-कौन से लक्षण हैं?"

भगवान् ने कहा—"कोई कितना भी उपदेश करे वह मन में बैठे ही नहीं। अंतःकरण में अन्धकार का ही साम्राज्य बना रहे, काम करने में प्रवृत्ति ही न हो, कोई काम करने को कहे भी तो नाना बहाने बनाकर टालम टूल कर जाय, प्रमाद में पड़ा रहे। मोहग्रस्त बना रहे कोई काम लाभ का है, उसमें अपनी हानि अनुभव करे यही मोह है, मोहग्रस्त होकर तान दुपट्टा सोता रहे। अपने हित का ध्यान न रखे ये ही सब लक्षण तमोगुण की वृद्धि के हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! ये तीनों गुण तो सदा प्राणियों के शरीरों में रहते ही हैं। कोई विरले ही त्रिगुणातीत होते हैं। वे तो मृत्यु को जीत लेते हैं, अमर बन जाते हैं किन्तु जो त्रिगुणातीत नहीं हुए हैं। तीनों गुणों के प्रवाह में ही बह रहे हैं, मरते समय यदि उसका सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है, तो उनकी कौन सी गति होगी? यदि मरते समय रजोगुण या तमोगुण की वृद्धि

है, तो उनकी कौन-सी गति होगी। कृपया मरण समय में बढ़े हुए गुणों का फल बता दीजिये।"

सूतजी कहते है—"मुनियो! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

ऐसे ही जब बढ़ै रजोगुन अपने तन में।
अति ई होंहि अशान्ति मचै गड़बड़ अति मनमें॥
होंहि चित्त में लोभ विषय सुख सब मिलि जावें।
अरजुन! होइ प्रवृत्ति जतन करि द्रव्य कमावें॥
करम कामना सहित सब, स्वार्थ भाव आरम्भ जब।
विषय वासना प्रबल हों, बढ़यो रजोगुन जानि तब॥

बढ़ै तमोगुन तबहिँ जबहिँ तम मनमें आवे।
अन्तःकरन मलीन प्रकाश न करन दिखावे॥
जो अपने करतव्य प्रवृति नहिँ करमनि होवे।
आलस में ई परयो रहै या निसिदिन सोवे॥
होंहि मलिनता मोहवश, आलस और प्रमाद अति।
बढ़यो तमोगुन समुझ तब, होइ न कुरुनंदनसुमति॥

अन्तकाल में बढ़े हुए भिन्न-भिन्न गुणों का भिन्न-भिन्न फल

[७]

सदा सत्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥*

(श्री० भग० गी० १४ अ० १४, १५ श्लोक)

छप्पय

तीनिहु गुन के माहिँ बढ़े गुन जो प्रचन्ड अति ।
मृत्यु समय जो प्रबल होहि गुन सो अन्तिम गति ॥
वृद्धि सत्व गुन होहि मरे जबई जिह प्रानी ।
होवेँ सद्गति तासु नहीं दुरगति जिइ जानी ॥
शुभ करमनि करता विमल, जिनि लोकनि में जात हैं ।
दिव्य स्वरग आदिक परम, लोकनि पाइ सिहात हैं ॥

---

* जब जीवात्मा सत्व की वृद्धि में मृत्यु को प्राप्त होता है, तब वह उन निर्मल लोकों को प्राप्त होता है, जिनमे उत्तम कर्म करने वाले पुरुष जाते हैं ॥१४॥

और यदि रजोगुण की वृद्धि के समय मरे तो कर्मासक्त पुरुषों में पैदा होता है और तमोगुण की वृद्धि में मृत्यु को प्राप्त हो, तो मूढ़ योनियों में उत्पन्न होता हैं ॥१५॥

समस्त त्रिलोकी के जीव अपने-अपने गुणों के अनुसार कर्म करके ऊँची, नीची और मध्यम योनियों को प्राप्त करते हैं। भुवर्लोक के ऊपर अनेक लोक है। प्राणी जब तक गुणों के अधीन रहकर कर्म करता रहेगा, तब तक त्रिलोकी में ही भटकता रहेगा। जन्मता रहेगा, मरता रहेगा। ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोक क्षयिष्णु पुनरावर्ती हैं। सत्त्वगुण प्रधान व्यक्ति तपस्या, दान, धर्म, व्रत, उपवास, तीर्थयात्रा, ब्रह्मचर्य पालन, इन्द्रिय दमन, मन की स्थिरता, सत्य, शौच, आस्तिकता, सन्तोष, स्वाध्याय, प्राणायामादि शुभ कर्मों में सदा लगे रहते हैं। भूल से उन से यदि कोई रजोगुणी, तमोगुणी अथवा पाप कर्म कभी बन जाता है, तो कृच्छ चान्द्रायणादि व्रत करके उसका प्रायश्चित करते हैं। ऐसे पुरुषों का मरते समय सत्त्वगुण ही बढता है, अतः ऐसे पुण्य कर्म कर्ता सदा पुण्य लोकों में हो जाते हैं।

सात्त्विक शुभ कर्म करने वाले व्यक्तिके पुण्यों के लोक बनते रहते हैं। सत्त्वप्रधान पुण्यात्मा लोग उन्हीं लोकों में जाकर सुखों का उपभोग करते हैं। क्योंकि सत्त्वगुण का परिणाम सुख ही है।

श्री रामजी ने शिव धनुष को भंग करके सीता जी को प्राप्त किया। विवाह करके जब वे अयोध्या को जाने लगे, तभी मार्ग में परशुराम जी मिले वे शिव धनुष भंग के कारण अत्यन्त ही कुपित हो रहे थे, श्री रामचन्द्र जी मे बडी देर तक वाद-विवाद होता रहा। अन्त में परशुराम जी ने कहा—"शिवजी के धनुष के ही सदृश मेरे पास एक वैष्णव धनुष और है, यदि तुम उसे चढ़ा दोगे तो मैं तुम्हारा लोहा मान जाऊँगा।" यह कहकर परशुराम ने उन्हें वह धनुष दिया, श्री रामचन्द्रजी ने सहज भाव से उस धनुष पर बाण चढ़ा दिया। परशुराम जी नतमस्तक

हुए श्रीराम का उन्होंने भगवत् बुद्धि से अभिवादन किया। तब रामचन्द्र जी ने कहा—"ब्रह्मन्! मेरा धनुष पर बाण चढ़ाना कभी व्यर्थ नहीं जाता। राम का बाण निरर्थक नहीं जाता। आप ब्राह्मण हैं, अतः मैं आपका वध तो करूँगा नहीं। अब यह बताइये कि इस बाण द्वारा मैं आपको चलने की शक्ति को नष्ट कर दूँ। अथवा आपके पुण्योपार्जित लोकों को नष्ट कर दूँ।

परशुराम जी ने कहा—'राघव! मैंने समस्त पृथ्वी को अपने पुरुषार्थ से जीतकर अन्त में इसे कश्यप जी को दान कर दिया था। दान करते समय मैंने प्रतिज्ञा की थी, कि मैं तुम्हारी पृथ्वी पर रात्रि में नहीं रहूँगा। अतः मुझे महेन्द्र पर्वत पर जाना है, इसलिये आप मेरी गति को तो अवरुद्ध करें नहीं। इस बाण से मेरे पुण्योपार्जित लोकों को ही नष्ट कर दीजिये।" भगवान् ने ऐसा ही किया। इस प्रकार पुण्य कर्म करने वाले सत्व प्रधान पुरुष मर कर स्वोपार्जित पुण्यलोकों को ही प्राप्त करते हैं।

जो राजस् प्रकृति के पुरुष हैं, वे सदा कर्मों में ही आसक्त बने रहते हैं, अतः अपने सुकृतों को स्वर्गादि लोकों में भोगकर अन्त में इसी कर्म भूमि में जन्म लेकर पुनः कर्मों में ही निमग्न हो जाते हैं। कर्म चाहें शुभ हों या अशुभ वे सब रजोगुण द्वारा ही होते हैं और उनका फल भी रजोगुण प्रधान होता है। हाँ भगवत् सेवा बुद्धि से-निष्काम भाव से-फल की आशा न रखकर जो कर्म किये जाते हैं, वे भले ही रजोगुण की ही प्ररणा से किये गये हों, उनका फल रजोगुण प्रधान नहीं होता भगवान् तो निर्गुण हैं, अतः उनके निमित्त किये हुए कर्म भी निर्गुण ही होते हैं, वे जन्म मृत्यु के चक्कर में डालने वाले न होकर सदा के लिये उनसे छुटकारा दिलाने वाले होते हैं।

इसी प्रकार तमोगुणी कर्म करने वाले लोग मरकर त्रिलोकी के अन्तर्गत दक्षिण दिशा में पृथ्वी के नीचे और जल के ऊपर घोर अन्धकारमय नरकादि असुर्या नाम के जो लोक है उन लोकों में वे जाते हैं, वहाँ नाना यातनायें भोगकर अन्त में शूकर कुकरादि पशु योनियों में या मूढ़ योनियो में उत्पन्न होते हैं।

सत्वगुण प्रधान कर्मों का फल सुख है, तमोगुणी कर्मों का फल दुःख है और रजोगुण प्रधान कर्मों का फल मिला जुला होता है। यह बात सदा स्मरण रखने की है कि ऐसा कोई पुरुष न होगा, जिससे सदा पाप ही पाप कर्म होते रहे हों, या पुण्य ही पुण्य कर्म होते रहे हों। जान में अनजान में सभी से कुछ न कुछ पाप कर्म या पुण्य कर्म बन जाते हैं। क्योंकि सृष्टि त्रिगुणात्मक है। जीव तीन गुणों के अधीन है। जितना जिसका पुण्य होता है, यदि वह स्वर्ग जाने योग्य हुआ तो स्वर्ग में जाकर भोगता है, सामान्य पुण्य हुआ तो उसका यहीं पृथ्वी पर सामान्य योनियों में हो कर लेगा। जैसे कुत्ता पाप योनियों में है, किन्तु कोई-कोई बड़े-बड़े आदमियो के कुत्ते ऐसे सुखों को भोगते हैं, जिनकी प्राप्ति सामान्य लोगों को दुर्लभ है। यह उनके पुण्यो का ही फल है।

सामान्य नियम यह है कि उत्तम कर्म करने वाले सत्त्व प्रकृति के पुरुष शुभ कर्मों के कारण मरकर उत्तम लोंको में जाते हैं, जब तक उनके पुण्यों का क्षय नहीं होता तब तक वे वहाँ के सुखों को भोगते रहते हैं। पुण्यों का क्षय होने पर वे पुनः पृथ्वी पर कुछ पुण्य शेष रह जाने के कारण उत्तम कुल में उत्पन्न हो जाते हैं।

जो पाप कर्म करने वाले तमोगुणी हैं, वे मरकर नरकादि लोकों में जाकर वहाँ की यातनाओं को भोगते हैं। कुछ पाप शेष होने पर वे नरकादि से निकलकर यहाँ सूकर कूकर अथवा

अन्य मूढ़ योनियों में जन्म लेते हैं।

जो रजोगुणी कर्म करने वाले मिले जुले गुणों वाले होते हैं, वे नरक स्वर्ग न जाकर तत्काल फिर यहीं दूसरी योनियों में कभी-उत्पन्न हो जाते हैं। कभी कुछ लोगों की आत्मा आकाश में विचरण करती रहती है, वह बिना गर्भवास किये ही दूसरे मृत शरीरों में प्रविष्ट हो जाती है। मरते समय जिसकी जैसी मति होती है, जिस गुण का प्राबल्य होता है, उसकी वैसी ही गति होती है उसी गुण के समान उसे लोकों की योनियों की प्राप्ति होती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने मरण के समय बढ़े हुए गुणों के फल के सम्बन्ध में प्रश्न किया तब भगवान् ने कहा—"अर्जुन जीवन भर मनुष्य जैसे कर्मों का निरन्तर अभ्यास करता रहेगा। जिन गुणों में लिप्त रहेगा, प्रायः मरते समय वे ही गुण उसके वृद्धि को प्राप्त हो जायँगे और उन्हीं गुणों के अनुसार उसकी गति होगी।"

अर्जुन ने पूछा—"मान लो, मरते समय किसी के शरीर में सत्त्वगुण की वृद्धि हुई है। तो उसे किन लोकों की प्राप्ति होगी?"

भगवान् ने कहा—"मरते समय सत्त्वगुण की अभिवृद्धि उन्हीं लोगों के शरीर में होगी, जिन्होंने जीवन भर शास्त्र विहित सात्त्विक कर्म किये हैं। ऐसे लोगों को दिव्य प्रकाशमय उत्तम निर्मल स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होगी। वे लोग मल अर्थात् दोषों से रहित होंगे। जिनमें दुःख का नाम भी न होगा, सुख ही सुख चारों ओर प्रतीत होगा।"

अर्जुन ने कहा—"अच्छा, मरते समय जिसका रजोगुण बढ़ जाय, उसकी क्या गति होगी? उसका जन्म किन लोगों के मध्य में होगा?"

भगवान् ने कहा—"जो कर्मासक्त पुरुष हैं, जो लोभ के वशीभूत होकर फल की इच्छा से सदा सर्वदा कर्मों में ही जुटे रहते हैं, जो निष्काम होने की बात सोचते भी नहीं। ऐसे पुरुषों का मृत्यु के अनन्तर उन्हीं कर्मासक्त मनुष्यों के मध्य में जन्म होता है, जो सदा सर्वदा कर्मों में ही प्रवृत्त रहते हैं। अर्थात् उनका जन्म मनुष्य योनि में होता है, जो प्रायः राजस् प्रकृति के होने के कारण सदा सर्वदा फल की इच्छा से कर्मों को ही करते रहते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"मरते समय जिनके शरीर में तमोगुण की ही अभिवृद्धि हो जाती है, उनकी कौन सी गति होती है?"

भगवान् ने कहा—"जो कामचोर हैं, सदा कर्म करने से जी चुराते रहते हैं जो निद्रा, आलस्य और प्रमाद प्रिय हैं ऐसे ही लोगों की मरणकाल में तमोगुण की अभिवृद्धि होती है। वे मरकर मूढ़ योनियों में उत्पन्न होते हैं कूकर सूकरादि पशु योनियों में पैदा होते हैं जिनका एकमात्र लक्ष्य आहार, निद्रा, भय और मैथुनादि ही है। वे भले ही मनुष्य योनि में भी उत्पन्न हो जायँ, किन्तु जिन मनुष्यों का लक्ष्य केवल खा-पीकर सो जाना मैथुनादि कर्मों में ही समय बिताना हो, तो वे भी एक प्रकार के मूढ़ योनि वाले पशु ही हैं। पशु शब्द का अर्थ जीव हैं। संसार में ऐसे असंख्यों बद्ध प्राणी हैं जिनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य आहार निद्रा भय और मैथुनादि सुख ही हैं। वे तमोगुणी पुरुष बार-बार संसार में जन्मते और मरते रहते हैं। ये ही अन्तकाल में तीनों गुणों की वृद्धि में होने वाली गतियाँ हैं।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन् इन तीनों गुणों के सम्बन्ध में मुझे और कुछ विस्तार से बतावें। इस प्रकार फल भेद होने का

कारण क्या है, इन गुणों के कारण ऊँची नीची गतियाँ कैसे प्राप्त होती हैं ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन के पूछने पर भगवान् इन गुणों के सम्बन्ध में और जो विशेष स्पष्टीकरण करेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

वृद्धि रजोगुन होहि मृत्यु पुनि होवै जबई।
करमनि की आसक्ति रहे मन में अति तबई॥
करम संगि जो मनुज योनि ताई में आवै।
पुनि-पुनि करिकें करम अन्त में फिरि मरि जावै॥
वृद्धि तमोगुन में मरै, मूढ़-योनि पावै तुरत।
जड़ पसु पच्छी कीट बनि, अन्धकार में बसहि नित॥

त्रिगुणों का फल तथा उनकी गतियाँ

[८]

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥
सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥*

(श्री० भग० गी० १४ अ० १६, १७, १८, श्लो०)

छप्पय

जा गुन मन आसक्त करम तस भाव सँजोवै ।
गुन जैसोई होहि तासु फल तैसो होवै ॥
सात्विक गुन अति श्रेष्ठ करम करि सुख उपजावै ।
ज्ञान और वैराग्य करम फल निरमल पावै ॥
दुःख रजोगुन करम को, फल दुःखहि वेदनि कह्यो ।
तमको फल अज्ञान है, यों फल गुन तीननि कह्यो ॥

---

* सात्विक कर्मों का सात्विक निर्मल फल होता है, रजोगुण का फल दुःख है और तमोगुण का फल है-अज्ञान ॥१६॥

सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुण से लोभ और तमीगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान ये सब उत्पन्न होते हैं ॥१७॥

कारण के अनुरूप कार्य होता है। कारण मृत्तिका है। उसके कार्य हैं घट, करवा, सकोरा, नाद आदि। इस प्रकार जैसा गुण होगा उसी के अनुरूप उसका कार्य होगा–फल निकलेगा। सात्त्विक गुण के जितने भी कार्य होंगे, वे सब सात्त्विकी कार्य ही होंगे। सात्त्विकी कार्यों का फल भी उस गुण के अनुरूप ही होगा। सात्त्विक गुण श्रेष्ठ है, उत्तम है, निर्मल है, प्रकाश युक्त है, ज्येष्ठ है तो उसके कार्य भी सुखद होंगे। चीनी के जितने खिलौने हैं, चाहे वह सौम्य गौ के आकार का हो, अथवा सूकर, कूकर, चूहा, सर्प किसी के आकार का किसी के नाम वाला क्यों न हो, जिह्वा पर रखने पर सभी का स्वाद एक सा मीठा सुखद होगा। क्योंकि उनका कारण मीठी चीनी है।

इसी प्रकार रजोगुण मध्यमगुण है, वह कर्म प्रधान है, लोभ उसकी प्रकृति है अतृप्ति उसका हेतु है उससे जो भी कर्म होंगे वे सब चित्त को चंचल बनाने वाले, अशांति को बढ़ाने वाले, संसारी स्वार्थ को साधने वाले तथा परिणाम में दुःख देने वाले होंगे। जैसे सुवर्ण के बने आभूषण कैसे भी हों, उन्हें देखकर चोरों का लालचियों का ठगों का मन विचलित हो ही जायगा। वे चाहें जौमाला के आकार के बने हों, कर्णपुष्प के आकार के या मछली के आकार के कुंडल हों। उन सबमें निहित सुवर्ण पर ही लालची की दृष्टि जायगी। कारण ही उसे दिखायी देगा, कार्य का उसकी दृष्टि में विशेष महत्त्व नहीं।

इसी प्रकार तमोगुण के सभी कार्य तमोगुणी ही होंगे।

सत्त्वगुण में स्थित पुरुष ऊर्ध्व लोकों में जाते हैं तथा रजोगुणी मध्य में रहते हैं। जघन्यगुण वृत्ति वाले तामसी लोग अधोगति को प्राप्त होते हैं ॥१८॥

उनका फल भी अज्ञता, मूर्खता तथा अन्धकार ही होगा। तमोगुणी पुरुष जहाँ तक होगा कामों से बचना ही चाहेगा, यदि कार्य करेगा भी तो घोर तमोगुणी कार्यों को ही करेगा। जैसे हिंसा, व्यभिचार, अखाद्य पदार्थों का खाना, अपेय पदार्थों का पान, अगम्या गमन, धर्म कर्म में प्रमाद, कर्तव्य कर्मों के प्रति उदासीनता, अश्रद्धा तथा आलस्य। दिन में रात्रि में सोते ही रहना। ये ही तमोगुणी कार्य उसके द्वारा होंगे। क्योंकि तमोगुण सबसे निकृष्ट अधम गुण है। योनियों में उत्तम योनि देवयोनि है, मध्यम योनि मानव योनि है, पशु-पक्षी सरीसृपादि की अधम योनियाँ हैं। उत्तम योनियों में उत्तमगुण सत्त्व गुण वाले प्राणी जाते हैं। ब्रह्मलोक पर्यन्त ऊर्ध्व लोकों को वे अपने पुण्यकर्मों के प्रभाव से जीत लेते हैं।

मिले-जुले गुणों वाला मध्यमगुण रजोगुण है। अतः उन्हें मध्य लोक इस पृथ्वी लोक की प्राप्ति होती है। कर्मप्रधान मनुष्य योनि मिलती है। यह मध्य का मार्ग है पृथ्वी पर से ही मनुष्य साधन करके उत्तम लोकों को भी प्राप्त कर सकता है, अधम कर्म करके नीचे भी जा सकता है, उसका अधःपात भी हो सकता है। रजोगुण के द्वारा मध्य का मध्य में भी रह सकता है और गुणातीत होकर संसार सागर से विमुक्त भी बन सकता है। मनुष्य योनि मध्य मार्ग है चौराया है। यहाँ से देव भी बन सकता है दैत्य भी बन सकता है, बीच में भी लटका रह सकता है और अपवर्ग को भी प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार यह तीनों गुणों का खेल हो रहा है ये ही तीन गुण प्राणियों को नचा रहे हैं, घुमा रहे हैं और जन्म तथा मृत्यु के चक्कर में झुला रहे हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! तीनों गुणों के कारण ऊँचो-

नीची गतियाँ कैसे प्राप्त होती हैं, जब अर्जुन ने यह प्रश्न किया, तब भगवान् ने कहा—"अर्जुन! मुनियों ने इन गुणों का विपद रूप में विवेचन किया है। उत्तम, मध्यम और अधम योनियों में किस-किस गुण के प्रभाव से कैसे-कैसे जाया जाता है, इसकी विशेषरूप से व्याख्या की है। सत्वगुण प्रधान, मुख्य तथा उत्तमगुण है। रजोगुण मध्यम, बीच का तथा सामान्य गुण है। तमोगुण, निकृष्ट, अधम तथा सबसे अन्धकारमय गुण है। इनके अनुरूप ही फल होता है।"

अर्जुन ने पूछा—"सबसे श्रेष्ठ जो सत्वगुण है उस कर्म का फल क्या है?"

भगवान् ने कहा—"सात्विक प्रकृति सुकृति पुरुषों की होती है। जो धर्मात्मा पुरुष होते हैं वे ही सत्व प्रधान होते हैं। महर्षियों का कथन है कि सत्वगुण का फल मल से रहित निर्मल होता है, उसका परिणाम सुख देने वाला हुआ करता है।"

अर्जुन ने पूछा—"रजोगुण जो मध्यम गुण है उसका कर्म फल क्या है।"

भगवान् ने कहा—"रजोगुण का फल दुःख है। रजोगुण से जो सुख होता है वह भी दुःख मिश्रित ही सुख होता है।"

अर्जुन ने पूछा—"तमोगुण जो सबसे निकृष्ट गुण है उसका फल क्या है?"

भगवान् ने कहा—"तामस प्रकृति अधम के कारण होती है, उसका फल अज्ञान अर्थात् अविवेक ही है। तामसी गुण वालों को यह विवेक नहीं रहता कि कौन-सा कर्म कर्तव्य है कौन-सा अकर्तव्य। वे परमार्थ से वंचित रहते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"ऐसा होता क्यों है? इसमें हेतु क्या है?"

भगवान् ने कहा—"सत्वगुण प्रकाश-प्रधान है, अतः इसके

कार्य भी प्रकाशमय ज्ञानमय होते हैं, प्रकाश का परिणाम तो सुख होना ही चाहिये। रजोगुण भोगेच्छाओं पर निर्भर है। भोगेच्छायें कभी पूर्ण नहीं होतीं जितने भोग मिलते जाते हैं उतनी ही इच्छाएं बढ़ती जाती है। भोगेच्छाओं की पूर्ति असंभव है। इसी का नाम लोभ है। लोभ से दुःख होगा ही। इसी प्रकार तमोगुण अज्ञानमय है। उससे प्रमाद मोह होता है जो अज्ञान जनक है। अतः तामस गुण अधिकाधिक बन्धन कारक है।"

अर्जुन ने पूछा—"सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों के द्वारा कौन-कौन सी गतियाँ प्राप्त होती है ?"

भगवान् ने कहा—"जैसे ये उत्तम, मध्यम और अधम गुण हैं, वैसे ही इनके द्वारा उत्तम, मध्यम और अधम लोकों की प्राप्ति होती है। सत्वगुण मे स्थित पुरुष जो शास्त्रानुसार कार्य करते है, प्रकाशमय मार्ग से चलते है वे सत्यलोक पर्यन्त उत्तम पुण्यलोकों में जाते हैं। जैसा उनका ज्ञान होगे जैसे कर्म होंगे उन्ही के अनुरूप देवताओं तपस्वियों, महर्षियों, व्रतियों तथा ज्ञानियों के लोकों को प्राप्त होते हैं।'

जा राजस प्रकृति के हैं, रजोगुणी हैं, पुण्य पाप से मिश्रित इस भूलोक को प्राप्त होते है मनुष्य योनि को पाते हैं, वे न ऊपर के देवताओं के लोकों को जाते हैं और न तमोगुणी नीचे के लोकों को ही प्राप्त करते हैं। इस भारतवर्ष को कर्म भूमि में उत्पन्न होकर पाप-पुण्य मिश्रित कर्मो को करते रहते हैं।"

जो जघन्य गुण वृत्ति वाले अर्थात् तमोगुणी ही तामस प्रकृति के हैं। वे अन्धकारमय, अज्ञानमय नीचे के लोकों को प्राप्त होते हैं यही तीनों गुणों की गतियाँ हैं।

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! यह गुण प्रवाह तो नित्य है,

इसमें पड़ा प्राणी तो इन्हीं के प्रवाह में बहता रहेगा, इनसे बचने का कोई उपाय नहीं है क्या ? यदि कोई इनसे बच जाय, त्रिगुणातीत हो जाय, तो उसकी स्थिति कैसी होती है ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जैसे उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

तीनि गुननि तें होहि कहा सो सुनि ले अरजुन।
पृथक पृथक उत्पन्न होहि जैसो हांवै गुन॥
ज्ञान सत्त्व तें होहि उजारो भीतर बाहर।
लोभ रजोगुन होहि लगै संग्रह अति सुखकर॥
होहि तमोगुन तें अधिक, मोह प्रमाद डरावनो।
होहि मोहवश करम रत, अति अज्ञान भयावनो॥

पुरुष सतोगुन रहे उच्च लोकनि कूँ जावै।
जहँ प्रकाश नित रहै स्वरग के सुख सब पावै॥
रहै रजोगुन माहिँ मध्य लोकनि में, जनमें।
पाइ मनुज तन रहै निरत फलयुत करमनि में॥
तमोगुनी तम करम तें, पाइ अधोगति दुख सहै।
अधम योनि में जनम लै, पुनि रौरव नरकनि रहै॥

गुणातीत और उसके लक्षण

[६]

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥*

(श्री भग० गी० १४ अ० १९, २० श्लोक)

छप्पय

भव के कारन त्रिगुन त्रिगुन ई नाच नचावैं ।
तिनि वश ह्वै कें जीव अवर वर करम करावैं ॥
द्रष्टा निश्चय करें गुननि तजि करता नाहीं ।
गुन करवावैं करम प्रकृति में बसहिँ सदा हीं ॥
इनि तीनिहु गुनतैं परे, जाने मोकूँ तत्त्व तैं ।
प्राप्त होहि मम रूप कूं, पृथक होहि जग वस्तु तैं ॥

---

* जिस काल मे दृष्टा गुणो से अन्य किसी को कर्ता नही देखता है और अपने को गुणों से परे गुणातीत समझता है, तो वह पुरुष मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है ॥१९॥

जो पुरुष इन देह से समुद्भव तीनों गुणो को पार करके जन्म, मृत्यु, जरा और दु:खो से विमुक्त बन जाता है—गुणातीत हो जाता है—तब वह अमृत तत्त्व को प्राप्त हो जाता है ॥२०॥

संसार बन्धन का कारण भाव ही है। जीव का जैसा भाव होगा वैसा ही वह अपने को अनुभव करने लगेगा। पृथ्वी, जल तेज, वायु और आकाश, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्रायें, पचप्राण, तीन गुण अन्तःकरण चतुष्टय इनके संहात से बना यह शरीर है। ये सब जड़ हैं, अतः इनमें क्रिया शक्ति नहीं। जब चेतन्यांश जीव या पुरुष इनका ईक्षण करता है, देखता है तब इनमें क्रियाशक्ति उत्पन्न हो जाती है। इस चैतन्य के देखने मात्र से ही तीनों गुणों के अनुसार इन्द्रियाँ अपना-अपना काम करने लग जाती हैं, अन्तःकरण अपना कार्य करता है और प्राण अपना कार्य करते हैं। गुणों की प्रेरणा न हो तो, कोई भी घटक अपना कार्य न करे। चेतन्य तो दृष्टा मात्र है, साक्षी है, उसके देखते ही रहने से उसके प्रकाश प्रदान करने से ही यह शरीर गुणों के अनुसार वर्तता रहता है। इस संघात संचालन में गुणों के द्वारा ही सब कार्य होते हैं। जीव तो तटस्थ भाव से ज्ञान का प्रकाश देता है, उसकी उपस्थिति में उसी की छत्रछाया में तीनों गुण अपनी धुना पुनी करते रहते हैं जीवात्मा अपने को केवल साक्षी ही न समझकर कर्ता भोक्ता भी अपने को मानने लगता है तभी गड़बड़ी मच जाती है।

क्या गड़बड़ी मच जाती है? यही गड़बड़ी हो जाती है, कि जो अपने को कर्ता मानेगा वही उसके फल के भोगने का भी अधिकारी होगा। जो अपने निमित्त पेड़ लगावेगा। अपने में पेड़ लगाने वाले अभिमान का आरोप करेगा, तो फल लगने पर उनके भोगने का भी अपने को स्वत्वाधिकारी मानेगा। यदि पेड़ लगाते समय ही वह समझे, यह मैं भगवान् के लिये कर रहा हूँ। मैं तो तटस्थ हूँ, निमित्त मात्र हूँ। प्रकृति से बीज उत्पन्न हो गया है, भूतों के संयोग मे वह बीज अंकुरित, पुष्पित, फल वाला हो

गया है, तो जैसे प्रकृति ने इसे उत्पन्न किया है, तो जिसके लिये-अपने पति परमेश्वर के लिये-उसने उपजाया है, तो परमेश्वर ही उसके फल को भोगे। मुझसे क्या प्रयोजन ? मैं तो निमित्त मात्र था और मुझे निमित्त भी उन्हीं परमात्मा ने बनाया। अतः इस संघात से इस देह रूपी वृक्ष से और इसके फलों से मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं। तो ऐसा भाव रखने वाला जीव इस देह रूपी फलों का भोक्ता न होगा।

इस देह रूपी वृक्ष में चार फल लगते हैं। उनका नाम है जन्म, मृत्यु, जरा और दुःख। जो पुरुष अपने को कर्मों का कर्ता मानेगा, तो उसे इन कर्मों का फल भी भोगना ही पड़ेगा। कोई शरीर ऐसा नहीं जिसका किसी न किसी प्रकार जन्म न हुआ हो, जिसकी किसी न किसी कारण से मृत्यु न हुई हो, जिसको किसी न किसी प्रकार से वृद्धावस्था ने न घेरा हो और जिसे किसी न किसी प्रकार से अधिव्याधियों ने दुखित न किया हो। ये जन्म, जरा, मृत्यु और दुःख शरीर रूप वृक्ष के पके फल हैं, इन्हें त्रिगुणों ने पैदा किया है। जो चेतन्यांश जीवात्मा गुणों को उत्पन्न करने वाला न मानकर अपने को ही कर्ता मान लेता है, तब तो जन्म, मृत्यु, और दुःख रूप जो फल हैं उन्हें खाना ही पड़ेगा। जन्म में भी दुःख है, मृत्यु में भी दुःख है, वृद्धावस्था में तो दुःख ही दुःख है इसके अतिरिक्त मानसिक पीड़ाओं को आधि कहते हैं, शरीर सम्बन्धी ज्वरादिक रोग सम्बन्धी पीड़ाओं को व्याधि कहते है। इनसे भी भाँति-भाँति के दुःख उठाने पड़ते हैं। ये दुःख उन्हीं को होते हैं जो तीनों गुणों को भूलकर अपने को ही कर्ता माने बैठे हैं। जिस समय भाव बदल जाय, अपने को कर्ता भोक्ता न मानकर केवल साक्षी, द्रष्टा तथा तटस्थ ही अनुभव करने लगे तो गुण तो गुणों में वर्तते ही रहेंगे। इसका

कर्तृत्व और भोक्तृत्व का अभिमान दूर हो जायगा फिर वह चैतन्यांश जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधियों से अपने को पृथक् करके भगवद् भाव को प्राप्त हो जायगा। उसका बद्ध जीव भाव दूर हो जायगा।

सूतजी कहते है—'मुनियो! जब अर्जुन ने त्रिगुणों से अतीत होने का उपाय और त्रिगुणातीत के लक्षणों का प्रश्न किया, तब भगवान् ने कहा—"अर्जुन! मिथ्या अहंकार विष है। और स्वरूप का ज्ञान अमृत है। प्राणी विष खायगा तो मृत्यु के अधीन हो जायगा और अमृत पान करेगा, तो अजरामर बन जायगा।"

अर्जुन ने पूछा—"विष क्या है अमृत क्या है?"

भगवान ने कहा—"चैतन्य तो साक्षी मात्र है। शरीरों में क्रियायें तो गुणो द्वारा हो रही हैं। इन क्रियाओं को गुणों द्वारा होती हुई न मानकर इन्हें अपने द्वारा की हुई जीव मानने लगता है, तब मानों उसने विषपान कर लिये। विषपान करने वाले की मृत्यु हो जायगी। जिसकी मृत्यु है उसका जन्म भी ध्रुव है। जो जन्म मृत्यु के चक्कर में फँसा उसे जरा, आधिव्याधियों का सामना करना ही पड़ेगा। किन्तु जो पुरुष तीनो गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी को भी कर्ता नहीं देखता। और अपने गुणों से परे मानता है, तो उसका बद्ध जीवपना छूट जाता है। वह मेरे भाव से भावित हो जाता है यही उसका अमृत पान है।"

अर्जुन ने पूछा—"अमृत पान कर लेने पर उसकी स्थिति कैसी हो जाती है?"

भगवान् ने कहा—"भाई, अज्ञान ही विषपान है, ज्ञान ही अमृत पान है। जिस समय पुरुष को यह ज्ञान हो जाय, कि ये तीनों गुण ही देह को उत्पन्न करते हैं। देह को उत्पत्ति के बीज

भूत ये ही तीन गुण हैं। मै इन तीनों गुणों से सर्वथा पृथक् हूँ। ऐसा ज्ञान होने पर यह क्षेत्रज्ञ देही जीव तीनों गुणों से पार चला जाता है। इन तीनो का अतिक्रमण कर जाता है इन्हें लाँघ जाता है, त्रिगुणों का उल्लङ्घन कर जाता है। जब तीनों गुणों से पार चला गया, तो जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधियाँ तो इस त्रिगुणात्मक देह रूपी वृक्ष के विष मय फल है इनका भोक्ता न होकर ज्ञानामृत के पान का अधिकारी बन जाता है। दुःखों से सदा के लिये विमुक्त होकर अमरत्व को प्राप्त कर लेता है, परमानन्द में निमग्न हो जाता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने यह सुना कि त्रिगुणातीत होने पर इस शरीर में ही जीव अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है, वह अजरामर हो जाता है, तब तो उसे बडा हर्ष हुआ। अब उसके मन में अनेक प्रकार के प्रश्न उठने लगे। उन प्रश्नों को वे जैसे भगवान् से पूछेंगे, उनका वर्णन मे आगे करूँगा।"

छप्पय

गुनके कारन होहि फेरि उत्पत्ति देह की।
चिन्ता गुनवश करै पुत्र, धन, दार गेह की॥
होवै त्रिगुनातीत करै उल्लङ्घन इनि को।
तब होवै निश्चिन्त दास नहिं इनि विषयनि को॥
तब फिरि त्रिगुनातीत नर, जनम मृत्यु छुटि जाइगो।
जरा दुःख सब भाँति के, मिटैं अमृत पद पाइगो॥

—:※:—

अर्जुन का गुणातीत के लक्षण सम्बन्धी प्रश्न और भगवान् का उत्तर

[१०]

अर्जुन उवाच—

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते॥

श्री भगवानुवाच—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति॥*

(श्री० भग० गी० १४ अ० २१, २२ श्लोक)

छप्पय

अरजुन पूछन लग्यो—प्रभो! हम कैसे मानें।
यह है त्रिगुनातीत कौन लच्छन तैं जानें॥
कैसी वाकी रहन सहन निष्ठा कस ताकी।
करै आचरन मुक्त दशा होवै कस व्याकी॥
सब सँग कैसे रहत यह, कैसो है आचार तस।
इन तीनहु गुन लाँघि कें, होवै त्रिगुनातीत कस॥

---

* अर्जुन ने पूछा—"प्रभो! इन तीनों गुणों से अतीत पुरुष किन लक्षणों से युक्त होता है? उसका आचार कैसा होता है? वह प्राणी

बाहरी चिन्हों से ज्ञानी अज्ञानी साधु असाधु नहीं जाने जाते। भीतरी गुणों द्वारा ही यह समझा जाता है, कि यह साधु है या असाधु। कभी-कभी असाधु पुरुष भी ऐसा बाह्य वेष बना लेते हैं, कि उनके चक्कर में अच्छे-अच्छे लोग आ जाते हैं। हनुमानजी लक्ष्मणजी के लिये संजीवनी बूटी लेने जा रहे थे। उनके मार्ग में विघ्न करने कालनेमि असुर साधु का वेष बनाकर बैठ गया। हनुमान्‌जी बाह्य वेष देखकर पहिले तो उसके चक्कर में आ गये, किन्तु जब मछली बनी अप्सरा ने उन्हें उसका यथार्थ रूप बता दिया, तब उसकी पोल खुल गयी। हनुमान्‌जी ने उस दंभी साधु को–कपट वेषधारी असुर को–यमराज का द्वार दिखा दिया।

इसी प्रकार रावण ने भी कपट संन्यासी का वेष बनाकर सीताजी के द्वार पर भिक्षा माँगी। भोली भाली राजकुमारी उसके बाह्य रूप को देखकर उसका आतिथ्य करने को विवश हो गयीं। धर्मभीरु होने के कारण उसकी बातों में आ गयीं। उसने साधु के दंभवेष से अनुचित लाभ उठाया सीताजी को हर ले गया, अन्त में वह श्रीरामचन्द्रजी के हाथों सकुटुम्ब मारा गया।

राहु ने भी असुर होकर देवताओं का-सा बनावटी वेष बना लिया था। मोहिनी बने साक्षात् भगवान् ने भी उसे देवता ही समझा। जब सूर्य चन्द्र ने उसका परिचय दे दिया तो अमृत

किन उपायों द्वारा इन तीनों गुणों से अतीत हो सकता है ? ॥२१॥

भगवान् ने कहा—"हे पांडव ! प्रकाश और प्रवृत्त तथा मोह ये जिसमें न हों, जो कर्मों में प्रवृत्त होने पर न तो बुरा समझता है और न निवृत्त होने की आकांक्षा रखता है, जो दोनों में सम-भाव रखता है।" (वही गुणातीत है) ॥२२॥

पान कर लेने पर भी भगवान् ने उसके सर को धड से पृथक् कर दिया।

इस प्रकार वाह्यवेश क्षण भर को भले ही भ्रम में डाल दें, वास्तव में साधुता तो हृदय की वस्तु है, वह वाह्य चिन्हों से प्रकट न होकर भीतरी गुणों द्वारा ही आंकी जाती है। इसीलिये कहा है यम और नियमों में से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन यमों का-तो-नित्य निरन्तर पालन करना चाहिये और शौच संतोष, तप, स्वाध्य और ईश्वर प्रणिधान इन नियमों का आवश्यकता होने पर भगवत् परायण होकर जैसी परिस्थिति हो, वैसे ही समयानुसार पालन करना चाहिये। क्योंकि यम भीतरी गुण हैं इनका पालन विवेकी सत्य परायण साधु ही कर सकते है और नियम तो बाहरी गुण हैं, इनका पालन तो दिखावटी भी-दम्भ के लिये असाधु पुरुष भी कर सकते हैं। इसीलिये जहाँ भी कहीं स्थितप्रज्ञ के, भगवत् भक्त के तथा त्रिगुणातीत पुरुष के लक्षण पूछे गये हैं, वहाँ भगवान् ने यह कहीं नहीं बताया है ज्ञानी पुरुष ऐसे वस्त्र पहिनता है, ऐसा चंदन लगाता है, ऐसी कंठी माला पहिनता है, जहाँ भी ज्ञानी, भक्त तथा त्रिगुणातीत के लक्षण बताये हैं वहाँ भीतरी गुणों पर ही बल दिया है, उसकी अन्तर्वृत्ति कैसी होती है, उसका विवेक, वैराग्य, शम, दम उपरति आदि अन्तर्गुण कैसे होते हैं। जब भगवान् ने तीनों गुणों के लक्षण बताकर इन गुणों से ऊपर उठने को अर्जुन से कहा, तब अर्जुन को यह जिज्ञासा हुई कि त्रिगुणों से ऊपर उठे हुए त्रिगुणातीत पुरुष के लक्षण क्या हैं। क्योंकि वास्तविक बात तो यह है कि चाहें पृथ्वी में हों या अन्तरिक्ष अथवा स्वर्ग में, मनुष्य योनि हो या देवयोनि इनमें कोई भी ऐसा व्यक्ति न मिलेगा जो प्रकृति के

सत्त्व, रज और तमोगुण इन तीनों गुणों से रहित हो। सभी तीनों गुणों के अन्तर्गत ही है फिर भी भगवान् ने उत्तम, मध्यम और निकृष्ट ये गुणों के तीन विभाग कर दिये है। पहिले निकृष्ट और मध्यम तमोगुण तथा रजोगुण का परित्याग कर नित्य सत्त्व गुण में स्थित रहे, फिर अंत में सत्त्व का भी परित्याग कर दे, क्योंकि कैसा भी सही—उत्तम ही सही—सत्त्व भी बन्धन का ही कारण है, वह भी तो अन्ततोगत्वा रज्जु ही है, अतः सत्त्व को भी त्यागकर गुणातीत हो जाय। जैसे अधर्म का त्याग करके धर्म का आचरण करो। असत्य का त्याग करके सत्य का आचरण करो। फिर धर्म अधर्म, सत्य असत्य दोनों का त्याग करदो। दोनों का त्याग कर देने पर जिस बुद्धि से दोनों का त्याग किया उसे भी त्याग दो। धर्म और सत्य तो साधन मात्र हैं साध्य तो त्याग स्वरूप भगवान् ही हैं। इसी प्रकार तमोगुण रजोगुण को त्याग कर सत्त्व को इसलिये ग्रहण करते हैं, कि वह भगवत् मार्ग में तम और रज के समान बाधक न होकर साधक है, किन्तु सत्त्वस्थ होना जीवन का लक्ष्य तो नहीं है। लक्ष्य तो गुणातीत होना है और इस शरीर में ही इस जीवन में ही गुणातीत हुआ जा सकता है, इसीलिये अर्जुन ने गुणातीत के सम्बन्ध में तीन प्रश्न किये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब अर्जुन ने गुणातीत पुरुष के सम्बन्ध में अपनी जिज्ञासा भगवान् के सम्मुख प्रकट की। अर्जुन ने कहा—"प्रभो आप सोचेंगे तो सही कि यह एक ही बात को बार बार पूछता है, आप यद्यपि स्थितप्रज्ञ के भगवत् भक्तों के लक्षण बता चुके हैं, फिर भी मेरी बुद्धि स्थूल है, मैं भूल जाता हूँ, यद्यपि मैं स्थूल बुद्धि वाला हूँ फिर भी आपका भक्त हूँ, आपमें अनुरक्त हूँ, आप भक्तवत्सल है आपको अपने भक्त का

दुःख दूर करना चाहिये आप प्रभु हैं, समर्थ हैं, गुणातीत पुरुष के सम्बन्ध में मेरे कुछ प्रश्न हैं।"

भगवान् ने कहा—"हाँ, हाँ, कहो। मैं तुम्हारी सभी शंकाओं का समाधान करूँगा। एक ही प्रश्न का तुम्हारे पूछने पर बार-बार उत्तर दूंगा। पूछो, तुम क्या पूछना चाहते हो?"

अर्जुन ने कहा—"प्रभो! मेरा पहिला प्रश्न तो यह है कि जो गुणातीत पुरुष है जो इन तीनों गुणों को पार कर गया है उसके लक्षण क्या है, हम किन लक्षणों से यह समझें कि यह गुणातीत है।

दूसरा मेरा प्रश्न यह है, कि जो गुणातीत हो जाता है, उसका आचार व्यवहार कैसा होता है? वह स्वच्छन्द यथेच्छाचारी हो जाता है या उसके भी कुछ अपने नियम हैं। उसके आचरण कैसे होते हैं।

तीसरा मेरा प्रश्न यह है, कि गुणातीत होने का उपाय क्या है, किस प्रकार किन साधनों द्वारा पुरुष इन तीनों गुणों का अतिक्रमण करके गुणातीत बन सकता है?

ये ही तीन प्रश्न है मेरे प्रभो! यदि आप कृपा करके मेरे इन तीनों प्रश्नों का उत्तर दे देंगे, तो मैं अत्यन्त ही प्रमुदित हूँगा।"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् बोले—"अरे मेरे फूफा पांडु के पुत्र! तुमने ये बहुत ही सुंदर प्रश्न किये। मैं तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर देता हूँ। देखो, द्वन्द्व या द्वैत ही बन्धन का कारण है। राग भी सम्बन्ध का कारण है और द्वेष भी। हमें किस वस्तु में राग है, किससे द्वेष है इसका साक्षी हमारा अन्तःकरण ही है। अपने अतिरिक्त इसे दूसरा कोई समझ हो नहीं सकता है। स्वयं ही अन्तर्वृत्ति होने पर अनुभव कर सकता है! अतः तीनों गुणा

के प्रति न राग हो न द्वेष हो समता वृत्ति रहे यही गुणातीत का लक्षण है।"

अर्जुन ने पूछा—"तीनों गुणों में समभाव कैसे हो?"

भगवान् ने कहा—"देखो, सत्वगुण का कार्य है, इन्द्रियों में सब ओर से प्रकाश लाना, रजोगुण का कार्य है, कर्मों में प्रवृत्ति करना और तमोगुण का कार्य है, मोह उत्पन्न करना। बाह्यकरण और अन्तःकरण मे जब प्रकाश हो जाय, तब समझना चाहिये सत्वगुण उदय हो गया। यह सात्विक पुरुष है। जब कर्मों में निरतर प्रवृत्ति ही बनी रहे, लोभ, प्रवृत्ति, अशान्ति तथा स्पृहा घेरे रहें तब समझे, रजोगुण उदय हो गया। यह पुरुष रजोगुणी है, और जब मोह घेरे रहे, निद्रा, आलस्य और प्रमाद का आधिक्य हो जाय तो समझे तमोगुण बढ़ रहा है, यह मनुष्य तमोगुणी है, किन्तु जिस समय तीनों गुणों के जो कार्य प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह हैं, इनके आने पर जिसके अन्तःकरण में न तो इनके जाग्रत होने पर दुःख बुद्धि से द्वेष ही उत्पन्न होता है और न इनके निवृत्त हो जाने पर सुख बुद्धि से राग ही होता है। न तो उसे इनके आने पर कष्ट ही होता है न मोह में राग में फँसकर सुख बुद्धि से इनकी आकांक्षा ही करता है अर्थात् तीनों गुणों की प्रकाश प्रवृत्ति और मोह की प्रवृत्तियों में जो समभाव से स्थित रहता है, वही गुणातीत है।"

अर्जुन ने पूछा—"गुणातीत के और भी जो लक्षण हों, उन्हें भी कृपा करके बतावें।"

सूतजी कहते है—"मुनियो! अब भगवान् गुणातीतों के और भी जो लक्षण बतावेंगे उनका वर्णन में आगे करूँगा।"

छप्पय

बोले श्रीभगवान्-सुनाऊँ लच्छन अबईं।
गुनातीत है जाइ वृत्ति कैसी हो तबईं॥
सत्त्व रजोगुन कार्य तमोगुन के जितने गुन।
सत्त्व प्रकाश प्रवृत्ति रजोगुन मोह तमोगुन॥
आजावें यदि स्वतः जे, तो न द्वेष मनमें घरे।
नहिँ आवें इच्छा न अस, गुनातीत कारज करे॥

त्रिगुणातीत के आचरण

[११]

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥*

(श्री भ० गी० १४ अ०, २३, २४ श्लो०)

छप्पय

है जावै हो जाय नहीं होवै तो नाहीं।
उदासीनवत रहै सबहिं करमनि के माहीं॥
बिचलित नहिं करि सकें गुननि के कारज जेते।
बरति रहे गुन गुननि जगत में गुन हैं तेते॥
सदा सच्चिदानन्द महँ, मगन रहैं इस्थित रहत।
बिचलित होवै कबहुँ नहिं, गुनातीत ताकूँ कहत॥

---

* जो उदासीन की तरह रहता है, जिसे गुण विचलित नहीं कर सकते, गुण ही गुणों में वर्त रहे हैं, जो ऐसा मानता है। जो स्वरूप में स्थित रहता है, चलायमान नहीं होता है। २३॥

जो सुख दुख में सम है तथा स्वरूप में स्थित है, जिसको मिट्टी, पत्थर, सोना समान है, जो धीर है, जो प्रिय अप्रिय में समान हैं तथा जिसे निन्दा स्तुति बराबर है॥२४॥

गुण तो गुणों में सदा वर्तते ही रहेंगे। संसार में निन्दा करने वाले प्रशंसा करने वाले भी सदा बने ही रहेंगे। इन गुणों के रहते हुए भी जो इनमें समभाव से स्थित रहे वही गुणातीत है। अर्थात् गुण अपना काम करते रहें, हम उनसे तटस्थ होकर अपना काम करते रहें, यही गुणातीत के लक्षण हैं।

एक देश भक्त को फांसी की सजा हुई जिस दिन फांसी लगने वाली थी, उस दिन फांसी लगने के घन्टे भर पूर्व वे व्यायाम कर रहे थे। उनके एक साथी ने पूछा—"भाई, घन्टे भर पश्चात् तो तुम्हें फांसी लगने वाली है, फिर भी तुम नित्य नियमानुसार समय पर बिना घबराहट के व्यायाम कर रहे हो, यह क्या बात है ?"

उसने कहा—"भाई, जब फांसी अपने ठीक समय पर लगेगी, वह समय पर अपना काम करेगी, तो मैं अपने काम को क्यों छोड़ूं। मैं भी जब तक समय है, उसका नियमानुसार उपयोग करूं। जैसे जीवन में और काम है, वैसे ही फांसी भी है, इसमें घबराने की कौन-सी बात है।" मृत्यु को भी साधारण सी दैनिक घटना समझना यही गुणातीत के लक्षण हैं।

एक जहाज समुद्र में डूब रहा था। उसके मुख्य अधिकारी ने दुर्घटना की घंटी बजायी। सब लोग एकत्रित हुए। सब ने साथ ही अन्तिम प्रार्थना की। सब लोग भय से थर-थर कांप रहे थे, कोई रो रहे थे, कोई चिल्ला रहे थे, कोई घर द्वार, कुटुम्ब परिवार की चिन्ता में मग्न थे, किन्तु मुख्याधिकारी बैठा-बैठा अपनी घड़ी में चाभी दे रहा था।

एक ने पूछा—"श्रीमान्! एक क्षण पश्चात् जो जहाज डूब ही जायगा। आप व्यर्थ घड़ी में चाभी क्यों दे रहे हैं?"

अधिकारी ने कहा—"इतने बजकर इतने मिनट पर नित्य

चाभी देने का मेरा नियम है, जब तक जीवित हूँ नियम का दृढ़ता से पालन करूँगा। मृत्यु तो अवश्यम्भावी है, सभी की मृत्यु किसी न किसी दिन अवश्य होगी। जो अवश्यम्भावी वस्तु है, उसकी चिन्ता करने से क्या लाभ हम तो उसके स्वागत के लिये समुपस्थित हैं।"

एक महात्मा थे वे गृहस्थी थे, किन्तु घर से बाहर एक कोठरी में रहते थे। एक बार उनका पौत्र नया विवाह करके अपनी स्त्री के सहित उन्हें प्रणाम करने आया। वे मुस्करा दिये। एक ने पूछा—"बाबा अब तो आपको प्रसन्नता होगी कुछ दिनों में आप प्रपौत्र का मुख देख सकेंगे।"

इस पर वे बोले—"नित्य विवाह होते हैं नित्य पुत्र पौत्र होते हैं नित्य की साधारण सी घटना है, इसमें प्रसन्नता की कौन सी बात।"

वे घर के किसी काम में न तो सहयोग देते न किसी से घर के सम्बन्ध में कुछ पूछते। समय पर भोजन आ जाता कर लेते ध्यान में मग्न रहते। घर वाले भी इतने डरते थे कि उनसे सुख दुख की कोई बात नहीं कहते।

छोटे पुत्र की बहू अपने बच्चे को लेकर नित्य प्रणाम करने आती। वे देखते भी नहीं थे। एक दिन वह अकेली ही प्रणाम करने आई और फूट-फूटकर रोने लगी।

उन्होंने रोने का कारण पूछा—"उसने तो कुछ नहीं बताया दूसरे ने कहा—"इसका छोटा बच्चा मर गया है।"

तब वे सहज भाव से बोले—"उसका इतने ही दिनों का संस्कार रहा होगा। अपना समय पूरा करके चला गया। इसमें रोने की क्या बात है सभी को वहीं जाना है। जाकर भगवान् का नाम लो।"

विवाह में और मृत्यु में जिसके अन्तःकरण की स्थिति समान रहे वही गुणातीत पुरुष है।

एक महात्मा थे, वे अपनी साधना के समय में एक हाथ में सुवर्ण की एक गिन्नी लेते दूसरे में मिट्टी लेते। फिर मन से पूछते—"मन ! बता किस मुट्ठी में सुवर्ण है, किसमें मिट्टी है।"

मन तो बता ही देता इसमें सुवर्ण है, इसमें मिट्टी है। तब आप कहते—अरे, मन तेरा अभी भेद-भाव नहीं गया। देख दोनों ही में मिट्टी है और वे मिट्टी तथा गिन्नी दोनों को मिला कर गङ्गा में फेंक देते। वे तब तक ऐसा करते रहे जब तक दोनों में समभाव नहीं हुआ।

एक भक्त दम्पति लकडी बीनने वन में जा रहे थे पति आगे थे, पत्नी पीछे थी। आगे चलते-चलते उन्हें एक सुवर्ण मुद्राओं से भरी गठरी मिली। उनके मन में आया इन सुवर्ण मुद्राओं को कोई भूल गया है ऐसा न हो, इन्हें देखकर मेरी पत्नी का मन विचलित हो जाय, अतः वे उसके ऊपर मिट्टी डालने लगे। इतने में ही स्त्री भी आ गयी, उसने पूछा— 'प्राणनाथ ! आप यह क्या कर रहे हैं?" तब उन्होंने सत्य-सत्य बात बता दी।

यह सुनकर पत्नी ने हँसते हुए कहा—'प्राणनाथ ! अभी तक आपका विषम भाव नहीं गया। सुवर्ण भी पीली मिट्टी ही है और जिस बालू से आप इसे ढक रहे हैं, वह भी सफेद मिट्टी ही है। मिट्टी के ऊपर मिट्टी डालने से लाभ ही क्या है?"

उन भक्त का नाम राँका भक्त था। वे बोले—"तू तो मुझ से भी बाँका निकली। अतः वे समदर्शी भक्त राँका बाँका के नाम से प्रसिद्ध हुए। गुणातीत सुवर्ण, चाँदी, लोहा, ताँबा, लाल पीली मिट्टी सभी को मृत्तिका ही मानता है।"

एक परमहंस थे। निश्चिंत रहते, बिना मांगे जो भी प्रारब्धवश मिल जाता उसी में प्रसन्न रहते। उनका शरीर हृष्ट पुष्ट तथा चिकना था। एक दिन गङ्गा किनारे वे बालू में निश्चिन्त पड़े थे। कुछ पशु चराने को चरवाहे आ गये। महात्मा की मोटी-मोटी चिकनी जांघों को देखकर आपस में बोले—"इस बाबा की जांघें कितनी चिकनी मोटी हैं, लाओ इन पर अठारह गोटी खेलें। यह कहकर वे चाकू से उनकी जङ्घा पर लकीर करने लगे। लकीर करते समय रक्त बहने लगा। उसी समय कोई बुद्धिमान पुरुष आ गया। उसने चरवाहों को डांट फटकार कर भगाया। भीगे कपड़े से रक्त पोंछा और कहा—भगवन्! इन मूर्खों ने आपको बहुत कष्ट पहुँचाया आप यहीं रहें मैं नगर में जाकर औषधि ले आऊँ।"

परमहंस जी ने कहा—"अरे, कष्ट किस बात का? वे नित्य पृथ्वी पर १८ गोटी खेलते थे, यह शरीर भी तो पार्थिव ही है। इसमें हानि ही क्या हुई? औषधि भी पार्थिव है। उसे लेने क्यों जाते हो। पृथ्वी तो यहाँ भी है। मिट्टी पर मिट्टी डाल दो।"

ऐसी स्थिति जब हो जाय तभी समझना चाहिये हम गुणों की परिधि को पार करके त्रिगुणातीत हो गये। त्रिगुणातीत पुरुषों के आचार ऐसे ही होते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने भगवान् से ये तीन प्रश्न किये कि (१) गुणातीत के लक्षण क्या हैं? (२) उस का आचार वर्ताव कैसा होता है। और (३) गुणातीत कैसे हुआ जा सकता है। तब पहिले तो उन्होंने गुणातीत के लक्षण बताये अब दूसरे इस प्रश्न का कि गुणातीत का वर्ताव कैसा होता है, इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—"अर्जुन! गुणातीत सभी द्वन्द्वों में उदासीन रहता है। दुख हो चाहे सुख हो, हानि हो या लाभ

हो, जीवन हो या मरण हो सबमें उसके अन्तःकरण की वृत्ति सम रहती है। वह उदासीन के समान वर्ताव करता है। वह गुणों के धर्मों द्वारा चलायमान नहीं होता। सुख में फूल कर कुप्पा नहीं होता, दुख में दुखी होकर विचलित नहीं होता। वह सोचता है—'गुण ही गुण में वर्त रहे हैं ये जो घटनायें घटित हो रही है, गुणों के द्वारा ही हो रही है, मैं तो तटस्थ हूँ, इनसे मेरा क्या प्रयोजन ? यह सोचकर सुख पाने को या दुख की निवृत्ति के लिये किसी भी प्रकार की चेष्टा नहीं करता है। सबमें समभाव से वर्तता है, यही गुणातीत का आचार है।"

अर्जुन ने पूछा—"समरूप से वह कैसे वर्तता है ?"

भगवान् ने कहा—"सुख आ जाय तो भी तैसा दुख आ जाय तो भी तैसा। उसकी दृष्टि में सुख और दुःख में कोई भेद-भाव नहीं होता। वह सोचता है गुणों का कार्य है वे अपने-अपने कार्यों को करते रहे। मेरा इसमें क्या बनता बिगड़ता है। यही सोचकर वह सदा सर्वदा अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है। अपने स्वरूप से कभी विचलित नहीं होता।"

उसकी दृष्टि में पृथ्वी का ढेला, पत्थर और सुवर्ण सभी समान है। उसे कोई घटना न प्रिय है न अप्रिय। मनोनुकूल होने से उसे हर्ष नहीं, मन के प्रतिकूल होने पर भी उसे कोई विषाद नहीं। प्रिय अप्रिय में उसका अन्तःकरण सम रहता है। विकारों के हेतु समुपस्थित होने पर भी उसके मन में किसी प्रकार की विकृति नहीं आती। वह सर्वदा धैर्यवान् बना रहता है। कोई स्तुति करता है तो उसे हर्ष नहीं होता निन्दा करने वाले पर क्रुद्ध नहीं होता। वह निन्दा और स्तुति में समान रहता है। ऐसा ही गुणातीत पुरुष का आचार है, ऐसी ही उसकी रहनी सहनी है।

अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! गुणातीत का आपने लक्षण समभाव रखने वाला बताया। वह तुल्य भाव रखकर कैसे आचरता है इसे और बताकर मेरे तीसरे प्रश्न का भी उत्तर दें कि किस प्रकार त्रिगुणातीत हुआ जाय। त्रिगुणातीत होने का मुख्य उपाय क्या है ?"

सूतजी कहते है—"मुनियो ! अब भगवान् जैसे इस तीसरे प्रश्न का उत्तर देकर इस विषय का उपसंहार करेंगे। उसका वर्णन मैं आपसे आगे करूंगा।"

छप्पय

दुख सुख में समभाव निरन्तर आत्मा इस्थित।
मिट्टी पत्थर कनक सबनि कूँ समई समुझत॥
ज्ञानवान अति विज्ञ सरस सबई को प्यारो।
प्रिय अप्रिय सम मानि जगत तें करे किनारो।
धैर्यवान् सब कछु सहै, निन्दा इस्तुति सम रहत।
समदरसी जग पुरुष जो, गुनातीत उनकूँ कहत॥

गुणातीत होने के उपाय

[१२]

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥*

(श्री मग० गी० १४ अ० २५, २६, २७ श्लो०)

छप्पय

करैं भले ही मान कमल माला पहिनावैं ।
करैं चाहिँ अपमान बचन कटु आइ सुनावैं ॥
दोउनि में सम रहै मित्र अरु शत्रु पक्ष महँ ।
निन्दा इस्तुति एक पक्ष ही वा विपक्ष महँ ॥
करै नहीं संकल्प तैं, करमनि कूँ आरम्भ जो ।
कर्तापन तैं रहित जो, गुनातीत है पुरुष सो ॥

---

* जो मान अपमान में समान है, शत्रु मित्र दोनो पक्ष जिसे बराबर है, जिसने सभी आरम्भों को त्याग दिया है, वही पुरुष गुणातीत कहलाता है ॥२५॥

और जो अव्यभिचारी भक्तियोग से मुझे ही निरन्तर भजता है,

तीनों गुण तीनों लोकों को देने वाले हैं। मरते समय सत्त्व प्रधान हो तो उसे स्वर्गादि श्रेष्ठ लोकों की प्राप्ति हुआ करती है, रजोगुण प्रधान पुरुष मनुष्य लोक अर्थात् पृथ्वी पर ही जन्म लेते हैं और तमोगुण प्रधान पुरुष नरकादि लोकों को प्राप्त होते है, किन्तु जो इन त्रिगुणों से अतीत हो गये हैं, तीनों गुणों को लांघ गये हैं, जिन्होंने अपने जीवन काल मे ही-शरीर के रहते हुए ही-मान अपमान, शत्रु-मित्र आदि मे समभाव कर लिया है, ऐसे पुरुष न तो स्वर्ग जाते हैं न नरक जाते है और न मनुष्य लोक मे ही जन्म लेते हैं, ऐसे जीवन्मुक्त पुरुषों को तो भगवान् वासुदेव की ही प्राप्ति होती है, वे तो भगवान् को ही प्राप्त कर लेते हैं, क्योंकि भगवान् निर्गुण हैं, गुणातीत हैं, सत्त्व, रज और तम इन तीनों से परे हैं।

अब जो अर्जुन का तीसरा प्रश्न है, कि गुणातीत हुआ कैसे जाय, गुणातीत होने का साधन क्या है?—इसी पर विचार करना है। यही इस गुणत्रय विभाग योग का अन्तिम सार है। यही इस अध्याय का नवनीत है।

यह तो सिद्धान्त की बात है, जो जैसी श्रद्धा करेगा वह वैसा ही हो जायगा। सात्त्विक श्रद्धावाला सत्त्वगुण सम्पन्न होगा। रजोगुणी श्रद्धा वाला रजोगुणी स्वभाव का होगा और तमोगुणी श्रद्धा वाला तमोगुणी प्रकृति का होगा। जो निर्गुण श्रीकृष्ण भगवान् में श्रद्धा भक्ति करने वाला होगा, वही गुणातीत

इन तीनों गुणों को लांघकर ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है, वही गुणातीत है ॥२६॥

मैं अव्यय अमृत ब्रह्म की, शाश्वत धर्म की और एकान्तिक सुख की प्रतिष्ठा हूँ ॥२७॥

बन सकेगा। अतः गुणातीत बनने का एक मात्र उपाय है अव्यभिचारिणी भक्ति। गीता शास्त्र वर्णाश्रम धर्म अर्थात् कर्मयोग का समर्थन करता है। कर्मयोग के द्वारा भी मुक्ति हो सकती है। सकाम कर्मयोग जिसका एकमात्र लक्ष्य स्वर्ग प्राप्ति हो है और जिसके द्वारा बार-बार जन्मना और मरना पड़ता है, उस सकाम कर्मयोग की गीताशास्त्र निन्दा करता है, किन्तु कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों की स्तुति करता है, दोनों को ही मोक्ष का साधन मानता है, किन्तु उसका विशेष बल निष्काम कर्मयोग अर्थात् भक्तियोग पर ही है। भक्तियोग को वह कर्म और ज्ञान के बीच का मध्यमार्ग मानकर उसी पर बारम्बार बल देता है, उस भक्तिमार्ग को ही उन्होंने युक्ततम सवश्रेष्ठ, सर्वोपयोगी, सरस सुगम साधन बताया है। बारहवें अध्याय में उसका विशेष रूप से स्वरूप बताया है, कि भक्तियोग उसी को कहते हैं। जो सभी कर्म भगवत् अर्पण बुद्धि से किये जायँ, भगवान् के ही निमित्त किये जायँ। भगवान् गुणों से परे हैं; उनके निमित्त किये हुए कर्म भी गुणों से परे होंगे। अतः जिन्हें गुणातीत होना हो, वे जो भी कार्य करें उन्हें भगवान् के ही निमित्त करें तभी वे गुणातीत की पदवी को प्राप्त हो सकेंगे।

श्रीमद्भागवत श्रीमद्भगवद्गीता का भाष्य ही है। बिना श्रीमद्भागवत के पढ़े गीता समझी ही नहीं जा सकती। भागवत में भी भगवान् ने उद्धवजी से विशद रूप से तीनों गुणों की वृत्तियों का वर्णन किया है। वहाँ तीनों गुणों के स्वभाव कार्य और वृत्तियों का वर्णन करते-करते निर्गुण होने की भी साथ-साथ विधि बताते गये हैं। जैसे भगवान् ने कहा—"देखो उद्धव ! जब अपने धर्म का आचरण मुझे समर्पित करके अथवा निष्काम भाव से जो कर्म किया जाता है तो वह सात्त्विक कर्म है, जो

फल की कामना से किया जाता है, वह रजोगुणी कर्म है और जो कर्म दूसरों को दुःख देने अथवा दिखावटीपन से किया जाता है, वह तामसिक कर्म है, किन्तु मेरे ही निमित्त जो कर्म किया जाता है, वह निर्गुण कर्म है, अर्थात् गुणातीत होने वाले को समस्त कार्य केवल भगवत् परिचर्या के ही निमित्त करने चाहिये।"

शुद्ध आत्मा का ज्ञान सात्त्विक ज्ञान है, आत्मा को कर्ताभोक्ता समझना राजस ज्ञान है, शरीर को ही आत्मा समझना तामसिक ज्ञान है, किन्तु इन तीनों से विलक्षण भगवत् स्वरूप का वास्तविक ज्ञान ही निर्गुण ज्ञान है। इसलिये गुणातीत बनने वाले को ब्रह्म, परमात्मा अथवा भगवान् के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान उपलब्ध करना चाहिये।

वन का वास सात्त्विक निवास है, गाँवों में निवास करना राजस है। जहाँ जूआ होता हो और भी निकृष्ट कर्म होते हैं ऐसे स्थान में रहना तामसिक निवास है। किन्तु भगवान् के दिव्य देशों में भगवन्मन्दिरों में उपासनागृहों में निवास निर्गुण निवास है, जिसे गुणों से पार जाने की अभिलाषा हो, उसे सदा सर्वदा उपासना मन्दिर भगवत् निकेतनों में निवास करना चाहिये।

अनासक्त भाव से जो कर्म कर्ता है, वह सात्त्विक कर्ता है, रागान्ध होकर कर्म करने वाला राजसिक कर्ता और पूर्वापर का विचार बिना किये कर्म करने वाला तामसिक कर्ता है, किन्तु जो पुरुष केवल मेरी ही शरण में रहकर, किसी भी प्रकार के अहंकार के बिना कर्म कर्ता है वही निर्गुणकर्ता है। अतः गुणातीत बनने के इच्छुक को निरहंकार होकर भगवत् प्रपत्ति पूर्वक केवल भगवत् कैङ्कर्य, भगवत् पूजा अर्चा सम्बन्धी कर्मों को करना चाहिए।

आत्मज्ञान विषयक श्रद्धा सात्त्विक श्रद्धा है, कर्म विषयक श्रद्धा राजस श्रद्धा और जो श्रद्धा अधर्म में होती है वह तामस श्रद्धा है, किन्तु जो श्रद्धा मेरी सेवा, पूजा अर्चना, बन्दना में होती है वह निर्गुण श्रद्धा है। अतः गुणों से पार जाने वालों को मेरी सेवा में ही सतत श्रद्धा करनी चाहिये।

जो भोजन सीदा सादा, आरोग्यदायक, अनायास प्राप्त पवित्र हो, वह भोजन सात्त्विक भोजन है, जो रसनेन्द्रिय को रुचिकर, स्वाद की दृष्टि से युक्त हो वह भोजन राजस भोजन है और जो खट्टा चरपरा दुखदायी अपवित्र भोजन हो वह तामस भोजन है, किन्तु जो भगवद् प्रसाद है, भगवान् का नैवेद्य है वह निर्गुण है। अतः सदा सर्वदा भगवत् प्रसाद को ही गुणातीत बनने को पाना चाहिये।

आत्मचिन्तन अथवा अन्तर्मुखता से जो सुख प्राप्त होता है वह सात्त्विक सुख है, वहिर्मुखता से विषयों से जो सुख प्राप्त हो वह राजस सुख है तथा दीनता से अथवा अज्ञानता से प्राप्त होने वाला सुख तामस सुख है, किन्तु जो सुख भगवान् से भगवत् चिन्तन से प्राप्त हो वह अप्राकृत और गुणातीत है, इसलिये सच्चा सुख प्राप्त करने की इच्छा वाले गुणातीत को सदा सर्वदा भगवत् चिन्तन ही करते रहना चाहिये।

इन सबका सार यही हुआ कि गुणातीत होने का एक मात्र उपाय यही है, सदासर्वदा भगवान् वासुदेव की परम प्रेम रूपा अव्यभिचारिणी भक्ति ही में लीन रहना चाहिये। समस्त चेष्टायें उन्हीं के निमित्त करनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने गुणातीत के लक्षण और गुणों का अतिक्रमण किन साधनों द्वारा हो सकता है, यह पूछा तो भगवान् ने कहा—"अर्जुन! द्वन्द्वों की चिन्ता ही

गुणों के प्रवाह में बहा ले जाती है। जो निर्द्वन्द्व हो गया वही मानों तीनों गुणा का अतिक्रमण कर गया। उसके आचरणों से ही जाना जा सकता है, कि वह गुणातीत है।"

अर्जुन ने पूछा—"किस प्रकार के आचरणों से जाना जा सकता है?"

भगवान् ने कहा—"उसका किसी ने सम्मान किया, पूजा की माला चदनादि अर्पण किया दूसरे ने गाली दी, बुरा भला कहा, अपमान किया, तो दोनों ही दशा में जो सम रहे मान में तथा अपमान में जिसके चित्त की वृत्ति समान रहे। जिसके लिये सम्मान, सत्कार, आदर, स्तुति प्रशंसा और अपमान, तिरस्कार अनादर, निन्दा तथा बुराई दोनों ही एक सी लगे। जो सम्मान मे प्रसन्न तथा अपमान से खिन्न न हो, तो समझो यह गुणातीत है।"

अर्जुन ने पूछा—"मानापमान को समान समझने वाले गुणातीत के शत्रु मित्र तो रहते ही होंगे, उनके प्रति उसके कैसे भाव रहते हैं?"

भगवान् कहा—"शरीर रहते सभी के शत्रु मित्र बने ही रहते हैं, किन्तु गुणातीत पुरुष शत्रु तथा मित्र दोनों पक्षों में समभाव रखता है। यह नहीं कि शत्रु का निग्रह करने का भाव रखे या मित्र पर विशेष अनुग्रह करे। वह न मित्र के प्रति राग करता है न शत्रु से द्वेष भाव ही रखता है। उसकी अपनी दृष्टि में दोनों ही बराबर रहते हैं।"

जो किसी भी कर्म की कामना मन में रखकर प्रारंभ नहीं करता। वह वृक्षारोपण करते समय यह नही सोचता—यह संकल्प नहीं करता कि इस पर जो फल आवेंगे उनका मैं उपभोग करूंगा। जिसका कोई भी काम फल की इच्छा से—अपने सुख के

लिये अपनी जीवन सुविधा के निमित्त नहीं होता। उसी को ज्ञानी पुरुष गुणातीत कहते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"गुणातीत होने का साधन क्या है?"

भगवान् ने कहा—"गुणातीत होने का एक मात्र साधन है मुझ परमात्मा के प्रति अव्यभिचारिणी भक्ति करना।"

अर्जुन ने पूछा—"अव्यभिचारिणी भक्ति क्या होती है?"

भगवान् ने कहा—"जो धर्म के अनुसार अर्धाङ्गिनी है, धर्मपत्नी है, पतिपरायणा सती है, वह अपने प्राणपति से प्रेम न करके पर पुरुष से पति के समान सम्बन्ध रखती है, वह व्यभिचारिणी कहलाती है। मेरे भक्त का कर्तव्य है वह अपने अन्तःकरण को मुझमें ही लगा दे, मेरी ही अनन्य भक्ति करे मुझे ही सर्वत्र मानकर मेरे ही निमित्त नमस्कार करे अर्थात् जो भी करे मेरे ही लिये करे। वह तो मेरा अनन्य भक्त है किन्तु जो मेरे ऊपर विश्वास न करके दूसरों की शरण में जाता है, दूसरों से सुख की आशा रखता है, वह सच्चा भक्त नहीं व्यभिचार सम्पन्न भक्त है। वह गुणातीत नहीं बन सकता। किन्तु जो अव्यभिचार भक्तियोग के द्वारा एक मात्र मेरा ही सेवन पूजन, अर्चन, वन्दनादि करता है, वही पुरुष सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों को भली प्रकार से उल्लङ्घन करके सच्चिदानंदघन ब्रह्म को प्राप्त होने की योग्यता प्राप्त कर लेने का अधिकारी बन जाता है। अर्थात् उसे भगवद् प्राप्ति हो जाती है।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! 'ब्रह्म भूयाय कल्पते' आपने कहा। ज्ञान मार्ग वाले ब्रह्मभाव निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति को कहते हैं। सगुणोपासक उपासना द्वारा आपके सगुण साकार स्वरूप की प्राप्ति-आपके लोक की प्राप्ति-को कहते हैं। आप भी कभी तो कहते हैं वह ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है, कभी कहते हैं-

'वह अमृत्वाय कल्पते' वह अमर हो जाता है, कभी कहते मुझ अव्यय में मिल जाता है, कभी अक्षय सुख, कभी आत्यंतिक सुख; कभी ऐकान्तिक सुख कहते है और कभी कहते हैं वह मुझे ही (अर्थात् सगुण साकार श्रीकृष्ण स्वरूप को) प्राप्त होता है। ये सब सगुण निर्गुण, ब्रह्म, अमृत एक ही वस्तु हैं या पृथक्-पृथक् भाव हैं?"

अर्जुन के इस प्रश्न को सुनकर हंसते हुए भगवान् कहने लगे—"अर्जुन! जल कहो, नीर कहो, वारि कहो, पय कहो, पानी कहो इन सभी शब्दों को प्रतिष्ठा कहने वाले, उन पदार्थ में है जिसका स्पर्श शीतल हो, जो जिह्वा के अग्र भाग पर रखने से मीठा लगे, जिसे पीने मे तृप्ति हो, जो जीवनदाता हो और जो सभी शरीरों में, नदियों में तालावों में, समुद्रों में और कूपादि जलाशयों में भरा रहता हो। उसे किसी भी नाम से पुकारो वस्तु एक ही है। एक में ही ये सब भाव प्रतिष्ठित हैं। इसी प्रकार मैं ही आत्मा हूँ, मै ही पुरुष हूँ, मैं ही क्षेत्रज्ञ हूँ। अमृत मेरा ही नाम है, क्योंकि मै विनाश रहित हूँ। अव्यय मेरा ही नाम है, क्योंकि मेरा कभी व्यय नही होता मैं विपरिणाम रहित हूँ। सनातन या शाश्वत भी मै ही हूँ, क्योंकि अपक्षय से रहित हूँ। धर्मरूप भी मेरा ही है; क्योंकि सब मुझे ही धारण करते हैं या सभी का धारण स्थान मै ही हूँ, निष्ठारूप धर्म से ही साधक मुझे प्राप्त करते हैं। सुख स्वरूप भी मैं ही हूँ, क्योंकि शाश्वत सुख परमानंद रूप मैं ही हूँ वह सुख इन्द्रिय अथवा इन्द्रियों के विषयों द्वारा मिलने वाला न होकर ऐकान्तिक सुख है अव्यभिचारी सुख है। इसलिये मुझ ब्रह्म में ही इन सब भावों की, इन सब सम्बोधनों की इन सब नामों की प्रतिष्ठा है। जो वास्तविक पारमार्थिक तत्त्व है, जिसकी प्राप्त के लिये समस्त प्रयत्न किये जाते हैं, वह एक—

मेरे परमतत्त्व में ही हूँ। मुझे जान लेने पर सब कुछ जाना जा सकता है। मैं इस संसार को रचने वाले तीनों गुणों से अतीत हूँ। सबका पर्यवसान मुझमें ही होता है, मैं ही पुरुषोत्तम हूँ, मुझे जो पुरुषोत्तम जानकर भजता है वास्तव में वही मेरा भजन करता है।"

अर्जुन ने पूछा—"आप पुरुषोत्तम का भजन कैसे करें ?"

भगवान् ने कहा—"इस संसार रूप वृक्ष को कुठार से काटकर ही मुझ पुरुषोत्तम को प्राणी प्राप्त कर सकता है।"

अर्जुन ने पूछा—"इस संसार का कैसा स्वरूप है ? और इसे काटकर आप पुरुषोत्तम को कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? कृपा करके इसका वर्णन आप मुझसे करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन के पूछने पर भगवान् जैसे पुरुषोत्तम योग का वर्णन करेंगे, उसको मै आप से अगले पुरुषोत्तम योग नाम के अध्याय में कहूँगा।"

छप्पय

भक्तियोग तैं मोइ निरन्तर निशिदिन गावै।
अव्यभिचारी भक्ति मोइ तजि अन्य न ध्यावै॥
सेवा मेरी करै पत्र जल सुफल चढ़ावै।
मो में तन्मय रहै अन्त में मोकूँ पावै॥
भली भाँति तीनहु गुननि, लाँघि सच्चिदानन्दघन।
ब्रह्म प्राप्त होवै अवसि, अरजुन ! तू तो भक्त घन॥

सबको आश्रय पार्थ ! एक मोई कूँ जानो।
अविनाशी परब्रह्म व्याप्त मोई कूँ मानो॥
मेरो अमृत रूप पान करि अमर होहिँ नर।
नित्य धरमें आनंद एक रस अतिई सुखकर॥
जो अखण्ड ब्रह्माण्ड में, छाई रह्यो आनन्दघन।
आश्रय मोई कूँ समुझि, अरजुन ! मोमें रखहु मन॥

ॐ तत्सत् इस प्रकार श्रीमद्भगवत गीता उपनिषद् जो ब्रह्मविद्या योगशास्त्र है, जो श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्वाद रूप में है, उसमें "गुणत्रय-विभाग योग" नाम का चौदवां अध्याय समाप्त हुआ ॥१४॥

अथ

॥ पञ्चदशोऽध्यायः ॥

(१५)

अव्यय-अश्वत्थ वृत्त

[१]

श्रीभगवानुवाच—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा, गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि, कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥*

(श्री भग० गी० १५ अ० १, २ श्लोक)

छप्पय

पुनि बोले भगवान—जगत पीपर को तरु है ।
और तरुनि जड़ अधः तासु की जड़ ऊपर है ॥
शाखा नीचे चलें विलच्छण पेड़ कहावै ।
पत्ता जाके वेद चारि ई पत्र लगावै ॥
श्रुति इस्मृति अव्यय कहत, ऐसो यह संसार तरु ।
जो जाकूँ जाने सबिधि, जानत सब वह विज्ञवरु ॥

---

* एक अव्यय अश्वत्थ वृक्ष है, जिसका मूल ऊपर है, शाखायें नीचे हैं, वेद ही इसके पत्ते हैं, जो इसे जानता है, वास्तव में वही वेदवित् है ॥१॥

उस वृक्ष की शाखायें गुणों के जल से बढ़ती हैं, विषय ही उसके

कार्य को देखकर कारण का अनुमान किया जाता है। जैसा कार्य होगा, वैसा ही उसका आदि कारण होगा। वृक्ष को देखकर बीज का अनुमान किया जाता है कि वृक्ष है, तो अवश्य ही इसका बीज भी रहा होगा, किन्तु बीज दृष्टिगोचर नहीं होता, वह भूमि में छिपा रहता है और बीज जब अकुरित होकर वृक्ष बन जाता है तो तुम फिर बीज को लाख खोजो, बीज दिखायी ही न देगा। बीज ही तो वृक्ष बन गया है, वही तो सर्वान्तर्यामी रूप से वृक्ष की रग-रग में व्याप्त हो गया है। जिस बीज से वृक्ष बना था, यद्यपि वह बीज दीखता नही, किन्तु वृक्ष उसी बीज का प्रतीक है। बीज और वृक्ष में तादात्म्य भाव हो गया है, दोनों का अभेद सम्बन्ध हो गया है, फिर भी वृक्ष के नीचे बीज न लग कर उसके ऊपर फल लगते हैं, उन फलों में एक बीज के अनेक बन गये हैं और उन प्रत्येक बीज में वृक्ष उत्पन्न करने की शक्ति है। एक बीज के जो करोड़ों बीज बने हैं, उन करोड़ों बीजो में एक आदि बीज की शक्ति बँटी नहीं है कि एक बीज से जो करोड़ बीज बने हैं वे वृक्ष का करोड़वाँ भाग ही उत्पन्न करने में समर्थ हों। उस एक बीज की पूरी शक्ति करोड़ों बीजों में पूर्ण रूप से विद्यमान है। प्रत्येक बीज वैसा ही एक वृक्ष उत्पन्न करने में समर्थ है और प्रत्येक पेड़ वैसे ही करोड़ों बीजों को उत्पन्न कर सकता है, फिर वे करोड़ों बीजों में से प्रत्येक बीज वैसा ही वृक्ष बनाने की सामर्थ्य रखता है। उसकी शक्ति बँटती नहीं, घटती नहीं क्योंकि वह पूर्ण है। पूर्ण में से पूर्ण निकाल लो तो भी वह पूर्ण ही अवशेष रह जायगा। वह ब्रह्मरूप बीज परिपूर्ण है। वह पूर्ण को ही

कोंपल हैं, ये शाखायें ऊपर-नीचे फैली हैं, कर्मों के अनुसार बाँधने वाली जड़ें हैं ॥२॥

पैदा करेगा और उसका पूर्णत्व कभी घटेगा ही नहीं। पूर्ण का पूर्ण ही बना रहेगा।

यह संसार भी एक सनातन पीपल का वृक्ष है। इस वृक्ष के आदि बीज भगवान् ही हैं। भगवान् ही वृक्ष रूप में हो गये हैं। जैसे वृक्ष हो जाने पर वह बीज वृक्ष के परमाणु-परमाणु में व्याप्त हो जाता है, वैसे ही भगवान् इस जगत् रूप वृक्ष के अणु परमाणु में व्याप्त हो रहे हैं। यह बीज सनातन है और इसमें निहित वृक्ष भी सनातन है। यह वृक्ष दीखता है, इसलिये इसका अश्वत्थ-छेदन भी किया जाता है, किन्तु दृश्य वृक्ष के छेदन से वृक्षत्व का तो नाश हो नहीं सकता। वृक्ष तो बीज में सदा सर्वदा निहित रहेगा ही। इसीलिये यह वृक्ष अश्वत्थ है-श्व कहते हैं आने वाले दिन को जिसे 'कल' कहते हैं। यह ऐसा वृक्ष है कि इसके संबंध में यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि यह कल रहेगा भी या नहीं। इसकी स्थिति कल तक रहेगी भी या नहीं। फिर भी यह अनादि है सनातन है अव्यय है।

इस संसार रूप वृक्ष में और हमारे पृथ्वी के वृक्ष में एक बड़ा भारी अन्तर है। हमारे यहाँ के वृक्षों की जड़ तो नीचे पृथ्वी में रहती है, जैसे मनुष्य अपना आहार ऊपर से मुख में खाकर नीचे ले जाता है, किन्तु वृक्ष अपना भोजन नीचे जड़ से खाकर ऊपर डाली पत्तों में ले जाते हैं, इसीलिये वे 'अर्वाक्स्रोत' कहलाते हैं, क्योंकि इन वृक्षों की जड़ें नीचे होती हैं और आहार को नीचे से ऊपर ले जाते हैं। किन्तु इस संसार रूप अश्वत्थ वृक्ष की जड़ें ऊपर हैं और शाखायें नीचे हैं। जैसे पृथ्वी के वृक्ष पृथ्वी के नीचे से ऊपर की ओर आते हैं, यह संसार वृक्ष ऊपर से नीचे की ओर आता है।

वृक्ष में तो शाखायें तथा पत्ते होते हैं, तो इस संसार रूप

अश्वत्थ वृक्ष में शाखायें क्या हैं? तो इसमें आठ प्रकृतियाँ ही इसकी आठ शाखायें हैं वेद ही इसके पत्ते हैं, क्योंकि वेद त्रैगुण्य हैं। सत्व, रज, और तम इन तीनों गुणों का वर्णन वेद में हैं। इसलिये "त्रैगुण्यविषयावेदाः" कहे जाते हैं।

वृक्ष में तो पक्षी अपने-अपने नीड़ खोतले बना लेते हैं, तो इस संसार रूपी वृक्ष में भी ब्रह्मादि देवों ने सत्यलोक, तपलोक, जनलोक, महर्लोक, स्वर्गलोक तथा भुवर्लोक और भूलोक ये ऐसे बहुत से नीड़ बना रखे हैं।

श्रुति में इस वृक्ष का रूपक ऐसे बताया है—अव्यक्त इसका मूल है उसी से इस वृक्ष की उत्पत्ति है। उसी के अनुग्रह से दृढ़ होने के कारण यह परिवर्धित हुआ है। बुद्धि इसका तना है उसी से छोटी बड़ी बहुत सी शाखायें उत्पन्न होती हैं। इन्द्रियों के जो गोलक छिद्र हैं, वे ही इसके कोटर–नीड़ या खोतले है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ये ही इसकी विविध शाखायें हैं। इन्द्रियों के विषय ही इसके पत्ते हैं। धर्म और अधर्म इस वृक्ष के सुन्दर पुष्प है। सुख और दुख ये इस वृक्ष के फल हैं। सभी जीवों का जीवन का आश्रय बनाने योग्य–आजीव्य–है। इसका नाम ब्रह्मवृक्ष है–पीपल को वासुदेव वृक्ष कहते हैं–यह कभी पैदा नहीं हुआ। इसका आदि नहीं अनादि है सनातन है। यह ब्रह्मवन है। ब्रह्म इसमें कुछ कार्य नहीं करता–साक्षिवत निवास करता है।

इस वृक्ष का ज्ञानरूपी सुदृढ़ खड्ग से–बड़ी तरवारि से–समूल काटकर आत्मगति को प्राप्त करें, उस आत्मगति को प्राप्त करे जिसे प्राप्त कर लेने पर फिर इस संसार में लौटना न पड़े।

भगवान् ने त्रिगुणातीत होने के लिये–तीनों गुणों का अतिक्रमण करने के लिये–अव्यभिचारिणी भक्ति को ही साधन बताया। और फिर स्पष्ट बता दिया कि मैं अविनाशी, अविकारी, नित्य,

धर्म स्वरूप सुख स्वरूप, शाश्वत ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ। यह बात कही, तब अर्जुन के मन में यह बात आई, कि एक ओर तो भगवान् अपने को मायातीत, निर्गुण, निराकर, अज अव्यक्त बताते हैं। दूसरी ओर सगुण साकार रूप में मुझे कर्तव्य पालन का उपदेश कर रहे हैं, मेरे ही समान पुरुष रूप धारण किये हुए हैं, तो इनका वह पुरुषोत्तम रूप है क्या और इस संसार से इन परब्रह्म स्वरूप भगवान् का सम्बन्ध कैसा है। अर्जुन की इस जिज्ञासा को शान्त करने के ही निमित्त भगवान् ने पुरुषोत्तम योग का वर्णन किया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने संसार के सम्बन्ध में और पुरुषोत्तम भगवान् के सम्बन्ध में जिज्ञासा की, तब भगवान् कहने लगे—"अर्जुन! यह संसार पीपल वृक्ष के समान है।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! पीपल का वृक्ष तो बीज से होता है, उसका मूल नीचे पृथ्वी में होता है।"

भगवान् ने कहा—"यह संसार रूप अश्वत्थ वृक्ष उलटा है। इसका मूल मे परब्रह्म परमात्मा ऊपर रहने वाला हूँ अतः इसका मूल-अर्थात् मैं ऊर्ध्व हूँ अतः यह ऊर्ध्वमूल माना है।"

अर्जुन ने पूछा—"जब इसकी जड़ें ऊपर हैं तो शाखायें किधर जायँगी?"

भगवान् ने कहा—"जब जड़ें ऊपर हैं, तो शाखायें नीचे की ही ओर जायँगीं।"

अर्जुन ने पूछा—"कैसा है इसका स्वरूप?"

भगवान् ने कहा—"आज है-कल नहीं है इसीलिये इसका नाम अ-श्व-त्थ है।"

अर्जुन ने पूछा—"तो क्या यह नाशवान् है?"

भगवान् ने कहा—"नहीं, नहीं, यह तो अव्यय है अर्थात् अविनाशी है, सनातन है, नित्य है।"

अर्जुन ने पूछा—"इस पेड़ के पत्ते क्या हैं?"

भगवान् ने कहा—"त्रैगुण्य विषय वाले वेद ही इसके पुनीत पत्ते हैं।"

अर्जुन ने कहा—"वेदवेत्ता पुरुष तो नैस्त्रैगुण्य होते हैं। यह तो आप त्रिगुणात्मक संसार का वर्णन कर रहे है?"

भगवान् ने कहा—"जो लोग वेद के यथार्थ मर्म को नहीं जानते वे ही त्रिगुणों के चक्कर में फँसकर जनमते और मरते रहते हैं, किन्तु जो इस तत्त्व को भली भाँति जान लेता है, वास्तव में वही वेद के तात्पर्य को भली भाँति जानता है वेदवेत्ताओं ने इस संसार रूप वृक्ष के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के रूपकों का वर्णन किया है। कुछ आचार्य दूसरी ही भाँति कल्पना करते हैं।"

अर्जुन ने कहा—"उस कल्पना को भी कृपा करके सुना दीजिये।"

भगवान् ने कहा—"देखो, कुछ आचार्य कहते हैं। यह संसार रूप वृक्ष है। इसकी शाखायें नीचे ही नहीं, नीचे ऊपर दोनों ही ओर फैली हुई हैं। फिर ये शाखायें सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों के द्वारा नीचे, मध्य में और ऊपर सभी ओर फैली हुई हैं। तीनों गुण रूप-जल के द्वारा सींच-सींच कर ये बढ़ाई गयी हैं। फिर इनमें शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श-रूप लाल-लाल सुंदर-सुंदर प्रवाल पत्ते निकल आये हैं। इस मनुष्य लोक में परिणाम में धर्म और अधर्म रूप कर्मों में प्रवृत्त कराने वाली वासनायें, इसकी जड़ें हैं जो नीचे ऊपर दोनों ओर फैली हुई हैं। ये कर्मानुबन्धिनी मूलें ही जीवों से इस मनुष्य लोक में शुभाशुभ कर्मों को कराती हैं। इस प्रकार के संसार वृक्ष की

की भी आचार्यगण कल्पना करते हैं। इसकी जड़ें बढ़ती ही जाती हैं, ज्यों-ज्यों जड़ें बढ़ती हैं यह और भी विस्तार को प्राप्त होता जाता है। जब तक यह वृक्ष रहेगा तब तक—तीनों गुणों के बीच में ही भटकना पड़ेगा।"

अर्जुन ने ने पूछा—"तब करें क्या?"

भगवान् ने कहा—"यही करो कि इस वृक्ष को जड़मूल से काटकर फेंक दो, इसकी ओट में बैठे परब्रह्म को प्राप्त कर लो।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! यह संसार वृक्ष किस अस्त्र से काटा जा सकता है? और फिर कैसे उस परमपद को प्राप्त किया जा सकता है?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के इस प्रश्न का जो भगवान् उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

गुन तीनिहु जल कहें बढ़ै शाखा जिहि पाई।
कोपल कहत प्रबाल रूप तिहि विषय बताई॥
जितनी जग में योनि सबहिं शाखा कहलावें।
देव मनुज अरु असुर उपर नीचे फैलावें॥
मनुज लोक में करम तें बाँधन बारी जड़ अमित।
मैं मेरी अरु वासना, उपर नीचे सब जमत॥

इस संसार रूप उलटे अश्वत्थ को असंग शस्त्र से काट दो

[२]

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते, नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥*

(श्री भग० गी० १५ अ० ३, ४ श्लोक)

छप्पय

जा तरुवर को रूप नहीं देखन में आयो।
जैसें जो यह सुन्यो बिचारी तो नहिं पायो॥
जाको आदि न अन्त वेदवित यही बतायो।
भली-भाँति नहिं कहीं प्रतिष्ठा जगत कहायो॥
जाकी अति दृढ़ मूल हैं, मैं मेरी जग वासना।
काटो शस्त्र असङ्ग तें, जातें सुख की आस ना॥

---

* इसका रूप यहाँ वैसा पाया नहीं जाता। इसका न आदि है न अन्त तथा न इसकी संप्रतिष्ठा है। इसलिये इस दृढ़ मूल वाले अश्वत्थ को दृढ़ता के साथ असङ्ग-शस्त्र से काटकर—॥३॥

इसके उपरान्त उस परमपद को ढूढना चाहिये, जिस पद को प्राप्त

समुद्र सर्व तीर्थमय है, परम पवित्र है, किन्तु जब देवताओं को मार-मारकर असुर समुद्र के भीतर जाकर छिप जाते और उसके आश्रय से अवद्धय बन जाते, तब भगवान् की सम्मति से देवताओं ने अगस्त मुनि से प्रार्थना की। अगस्त मुनि समुद्र को सोख गये, देवताओं ने उन्हें मारकर अपना अभीष्ट सिद्ध कर लिया। उलटा काम करने वालों को-उलटे काम करने वालों को सहायता देने वालों को-दन्ड देना ही चाहिये।

महर्षि भृगु की पत्नी बड़ी प्रभावशालिनी थी, असुरगण देवताओं को मारकर भृगु पत्नी के यहाँ छिप जाते। भृगु पत्नी उन आततायियों को आश्रय देती थी, देवता वहाँ जा नहीं सकते थे, अतः देवगण परम चिन्तित हुए, वे भगवान् विष्णु की शरण में गये। स्त्री को यद्यपि अवध्या बतलाया है, जिस स्त्री के कारण अपना अनिष्ट हो, जो हमें अपने इष्ट की प्राप्ति में विघ्न स्वरूपा प्रतीत हो, उसे मार देना शास्त्र सम्मत है। यही सोचकर भगवान् विष्णु ने भृगु पत्नी का बध कर दिया।

❀ ❀ ❀

विश्वामित्रजी के यज्ञ में ताड़का सदा विघ्न करती थी, यज्ञ-रूप विष्णु की प्राप्ति में वह अन्तराय थी। विश्वामित्र जी अयोध्या जाकर श्री रामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी को ले आये और उसी मार्ग से आश्रम को चले जिस मार्ग में ताड़का रहती थी। वह राक्षसी ऋषि को तथा राम लक्ष्मण को खाने को दौड़ी।

करके फिर इस संसार में लौटते नहीं हैं। और जिससे यह पुरातन प्रवृत्ति विस्तार को प्राप्त हुई है, उसी आदि पुरुष की मैं शरण हूँ ॥४॥

विश्वामित्रजी ने कहा—"राम तुम इस आततायिनी राक्षसी को मार डालो।"

राम ने कहा—"भगवन् ! स्त्री को तो अवध्या बतलाया है, सर्व प्रथम तो मैंने मार धाड़ आरम्भ की है। पहिले ही पहिले स्त्री पर अस्त्र चलाने को क्यों कह रहे हो। अवध्या का बध क्यों करा रहे हो ?"

विश्वामित्र ने कहा—"यह उलटो खोपड़ी की स्त्री है। यह हमारी इष्ट प्राप्ति में विघ्न स्वरूपा है। ऐसो स्त्री को मार देने में कोई दोष नहीं, तुम मेरी आज्ञा से इसे मार डालो।" श्रीराम जी ने गुरु आज्ञा का पालन किया। अवध्या अबला का बध कर दिया।

❀ ❀ ❀

रुधिरासना राक्षसी पूतना उलटा काम करने वाली थी। माता तो बालकों की रक्षा करती हैं, वह राक्षसी माता का रूप रखकर बालकों का वध करती थी। माता तो बच्चों को दूध पिलाती हैं, वह दुष्टा माता का पवित्र रूप बनाकर बालकों को विषपान कराती थी। धर्म का उलटा आचरण करती थी। वही राक्षसी व्रज के बच्चों को मारती हुई माता बनकर श्रीकृष्ण के समीप भी आ गयी और उन्हें झट से उठाकर पट से विष लपेटे स्तनों से पय पिलाने लगी।

भगवान् ने कहा—"यह उलटा आचरण करने वाली है, उलटी खोपड़ी की है, इस की जड़ को ही समूल से नष्ट कर दो, इसका विष फैलता हुआ अनर्थ हो करेगा, अतः इसे शाठ रूपी अस्त्र से काट दो। मार दो। भगवान् ने ऐसा ही किया उसके मरते ही चारों ओर आह्लाद छा गया। स्त्री अवध्या होने पर

भी उलटी होने के कारण भगवान् ने उसका वध कर डाला। इन सभी कथाओं से यही सिद्ध होता है, कि जो उलटे आचरण करने वाला हो, जो इष्ट प्राप्ति में अन्तराय हो, विघ्न हो, उस का जड़ मूल से छेदन कर देने में कोई दोष नहीं।

अश्वत्थ वृक्ष- पीपल का तरुवर-वासुदेव वृक्ष है, अवध्य है, इसे काटना नहीं चाहिये। किन्तु जो उलटा अश्वत्थ हो, जिस की जड़ें ऊपर और शाखायें नीचे हों, और जो आद्यपुरुष की प्राप्ति में विघ्न स्वरूप हो, उसे असङ्ग रूपी शस्त्र से काट डालने में कोई हानि नहीं। उसे काट कर उससे परे जो परमपद है, उसका अन्वेषण करना चाहिये। जिससे जीव की अनादि प्रवृत्ति ही समाप्त हो जाय।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन ने संसार रूप अश्वत्थ वृक्ष के काटने का उपाय पूछा तो भगवान् कहने लगे— अर्जुन! यह संसार रूप अव्यय–उलटी जड़ों वाला वृक्ष है। यह अनर्थ की जड़ है।"

अर्जुन ने पूछा—"यह उलटा वृक्ष कैसे और कहाँ से पैदा हो गया?"

भगवान् ने कहा—"यह पैदा तो मुझ परमेश्वर से ही हुआ है। मेरे ही द्वारा इसका विस्तार भी हुआ है।"

अर्जुन ने पूछा—"इस वृक्ष के विषय में कुछ विवरण तो बताइये। इसके रूप रङ्ग के सम्बन्ध में कुछ कहिये।"

भगवान् ने कहा—"इसका कोई रूप नहीं, रङ्ग नहीं, वर्ण नहीं। जैसा यह है इस जगत में वैसा इसका रूप दिखायी नहीं देता फिर रूप के सम्बन्ध में तुमसे कैसे कहूँ।"

अर्जुन ने कहा—"इसका आदि क्या है?"

भगवान् ने कहा—"इसके आदि का भी पता नहीं अन्त का

भी पता नहीं और जब आदि अन्त का ही पता नहीं तो मध्य का तो पता लगेगा ही कैसे ?।"

अर्जुन ने कहा—"जिसका आदि अन्त ही नहीं तो फिर उसका अस्तित्व ही न होगा ?"

भगवान् ने कहा—सो भी बात नहीं, इसकी जड़ें अत्यन्त गहरी चली गयीं हैं। सुदृढ़ता के साथ जम गयीं हैं। ये अहंता और ममता तथा संसारी विषय वासनायें ही उसकी सुदृढ़ जड़ें हैं।"

अर्जुन ने कहा—"जब इसकी जड़ें इतनी सुदृढ़ हैं, इतनी बलवती और भीतर तक जम गयीं हैं, तो इसे काटा कैसे जा सकता है ?"

भगवान् ने कहा—"सुदृढ़ जड़ों वाले इस अनादि वृक्ष को सुदृढ़ शस्त्र द्वारा ही काटा जा सकता है।"

अर्जुन ने पूछा—"वह सुदृढ़ शस्त्र कौन-सा है ?"

भगवान् ने कहा—"इच्छा, स्पृहा, लालच, वासना, काम तथा सङ्ग आसक्ति ये सब प्रायः पर्यायवाची शब्द ही हैं। आसक्ति का उलटा अनासक्ति है। सङ्ग का विपर्यय असङ्ग है। अर्थात् अनासक्ति अथवा असङ्ग रूप सुदृढ़ शस्त्र द्वारा इसे अव्यय अश्वत्थ को काटा जा सकता है। अर्थात् विवेक वैराग्य तथा पुनः पुनः के सुदृढ़ अभ्यास द्वारा यह संसार वृक्ष कट सकता है। इसे काटकर तब फिर कार्य आरम्भ करे।"

अर्जुन ने पूछा—"काटकर क्या कार्य आरम्भ करे ?"

भगवान् ने कहा—"फिर उस पद की खोज आरम्भ करे, जिस पद पर पहुँच कर प्राणी पुनः इस जन्म-मरणशील जगत् में लौटकर नहीं आता।"

अर्जुन ने पूछा—"फिर वह पद प्राप्त कैसे हो ?"

भगवान् ने कहा—"उसकी प्राप्ति का एक ही सरल सुगम उपाय है। उस परब्रह्म परमात्मा की शरण में चला जाय, जिससे इस संसार रूप वृक्ष की अनादि प्रवृत्ति हुई है। जिसने बनाया है, वही इसके बिगाड़ने का-नाश का-उपाय भी जानता है, अतः सर्व भाव से उन्ही की शरण में जाने से इस संसार रूप अश्वत्थ वृक्ष का समूल नाश हो जायगा।"

अर्जुन ने पूछा—"उसकी शरण मै कैसे जाय?"

भगवान् ने कहा—"अहंता और ममता ही बन्धन है। 'यह मेरा है' इतना कहते ही बंध गया। 'इदं न मम' यह मेरा नहीं है इतना कहते ही बन्धन मुक्त हो गया। इदं न मम इदं न मम ही आगे चलकर नमो नमः, नमो नमः हो जाता है, अर्थात् मै उसी आदि पुरुष को नमस्कार करता हूँ। आद्यं पुरुषं प्रपद्ये; मैं उन नारायण की शरण में हूँ, मैं प्रपन्न हूँ, भक्त हूँ, शरणागत हूँ। इस प्रकार उनकी शरण जाने से यह वृक्ष भी कट जायगा और जहाँ जाकर जीव फिर लौटता नही वह पद भी प्राप्त हो जायगा।"

अर्जुन ने पूछा—"जो पुरुष उस पद को प्राप्त करते हैं उनके लक्षण क्या हैं, कैसे पुरुष उस पद को प्राप्त करते और वह अविनाशी पद है कैसा?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के इन दोनों प्रश्नों का भगवान् जो उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

पहिले करि वैराग्य काटि जड़ जग-पीपर की।
फेरि खोज करि भलीभाँति परपद ईश्वर की ॥
करि जा पद कूँ प्राप्त फेरि जग नहीं पधारें।
जाते जा संसार पुरातन तरु विस्तारें॥
आदि पुरुष जो जगतपति, ताई की हौं शरन हूँ।
यों मोकूँ सुमिरन करे, हौं अशरन की शरन हूँ॥

शरणागत पुरुष के लक्षण तथा अविनाशी पद

[२]

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा,
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वंद्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥
न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥*

(श्री० भा० गी० १५ अ० ५, ६ श्लो०)

छप्पय

जिनिमें नाहीं मान मोह जो निरहंकारी।
सङ्ग दोष जिनि जीति लियो जो दृढ़ व्रतधारी॥
जिनकी हैं अध्यात्म भाव में नित्य इस्थिती।
जिनिकी है गईं सबहिं कामननि की हू इति श्री॥
सुख दुख संज्ञक द्वन्दनिहिं, पुरुष विमुक्त रहैं सतत।
ते ज्ञानी पावैं परम, पद अविनाशी हू तुरत॥

---

* जो निर्मान मोह हैं, जिन्होंने सङ्ग दोष जीत लिया है। जो अध्यात्म में नित्य स्थित हैं, जिनकी कामना निवृत्त हो गयी हैं। जो

सम्मान की इच्छा तभी होती है, जब आदमी अपने को कुछ समझने लगता है। अपने को औरों की अपेक्षा बड़ा मानने के कई कारण हैं। सबसे प्रथम कारण तो है उत्तम कुल में जन्म है। विवाद का मुख कारण ऊँच-नीच की भावना है। हम इतने ऊँचे हैं, यह हमसे सब प्रकार से नीचा है, फिर भी हमारा सम्मान नहीं करता, हमारी बराबरी करने का साहस करता है। समझो कलह का बीज बो गया। देवयानी शुक्राचार्य की लड़की थी, शर्मिष्ठा असुरराज वृषपर्वा की पुत्री थी। शुक्राचार्य राजा के पुरोहित थे, वृषपर्वा राजा थे। पुरोहित को तो यह अभिमान था, कि मैं उत्तम कुल का ब्राह्मण हूँ, राजा का गुरु हूँ मैं उससे श्रेष्ठ हूँ। राजा को यह अभिमान था मैं शासक हूँ, सब मेरे अधीन हैं, ब्राह्मण होने से ही क्या हुआ, हैं तो ये हमारे आश्रित ही। दोनों के भावों का दोनों की संतानों पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य ही है। प्रायः लोग अपने भावों को छिपाये रहते हैं, ऊपर से काम चलाने को हाँ हूँ करके बात को टालते रहते हैं। उन्माद में या क्रोध में भीतर के आन्तरिक भाव प्रकट हो जाते हैं।

वृषपर्वा पुत्री शर्मिष्ठा को अभिमान था मैं राजकुमारी हूँ, पुरोहित पुत्री तो हमारी वृत्ति पर पलने वाली है, देवयानी को अभिमान था मेरे पिता वृषपर्वा के गुरु हैं, मैं गुरु पुत्री हूँ, मेरा

सुख-दुःख रूप द्वन्द्वों से विमुक्त हैं, ऐसे ज्ञानी जन ही उस अव्यय पद को प्राप्त होते हैं ॥५॥

उस परमपद को सूर्य प्रकाशित नहीं कर सकता और न चन्द्रमा तथा अग्नि ही। जहाँ जाकर फिर लौटते नहीं, वही मेरा परमधाम है ॥६॥

सबको सम्मान करना चाहिये। दोनों अपने भावों को छिपाये ऊपर से शिष्टाचार वर्तती रहती थीं। एक दिन दोनों नंगी सरोवर में नहा रही थीं। यौवन का उन्माद था, एकान्त की मस्ती थी, स्वतन्त्रता में अल्हड़पन आ ही जाता है, शीघ्रता में शर्मिष्ठा ने देवयानी के वस्त्रों को पहिन लिया। इस पर देवयानी को अत्यन्त क्रोध आ गया। क्रोध में जातीयता का अभिमान उभर आया। उसने क्रोध में भरकर कहा—"यह हमारी दासी के समान है, हमसे छोटी है, हम इसके पूजनीय वन्दनीय हैं। इसी के क्या, इसके बाप के पूजनीय हैं। मैं उस वंश की बेटी हूँ, जिन्होंने साक्षात् विष्णु के वक्षस्थल में लात मारी थी। इस दुष्टा का ऐसा साहस। हमारे वस्त्रों का स्पर्श कर ले। अब मैं क्या पहिनूँगी। इस नीचा के पहिने वस्त्र तो मैं पहिन नहीं सकती।"

इधर तो कुल का अभिमान उभर आया। उधर धन, वैभव, अधिकार, तथा सौन्दर्य का अभिमान था। उसने भी क्रोध में भरकर न कहने योग्य बातें कह डालीं—"अरे, भिखारिनि! बहुत बढ़-बढ़कर बातें न बना। कौए और कुत्तों की भाँति तू अन्न के लिये हमारे घर के चक्कर लगाती रहती है। हम एक दिन अन्न न दें तो तू भूखी मर जायगी।"

बस, दोनों ओर के अभिमान—"बड़प्पन के कारण कलह हो गयी। राजपुत्री शर्मिष्ठा ने गुरुपुत्री को कूएँ में धकेल दिया। पीछे अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये ऊपरी मन से उनसे क्षमा माँग ली उसकी दासी बनकर देवयानी के ससुराल में भी गयी। किन्तु राजपुत्री का अभिमान और राजकुमारी का भाग्य उसके साथ रहा। दासी बनकर गयी, रानी बन गयी। देवयानी ने

बहुत विल्ल-पों मचाई किन्तु राज्य का अधिकारी शर्मिष्ठा का ही पुत्र हुआ।

अतः कलह का कारण अभिमान ही है और अभिमान के बहुत से कारण है उत्तम कुल में जन्म का अभिमान, शुभ कर्मों के करने का अभिमान, युवावस्था का अभिमान, सौन्दर्य का अभिमान, विद्या का अभिमान, ऐश्वर्य अधिकार का अभिमान, धन, जन, बल आदि का अभिमान। ये अभिमान ही जन्म और मरण के चक्कर में डालकर घुमाते रहते हैं। अतः जिन्हें यह इच्छा हो, कि हमारा पुनः जन्म न हो हम आवागमन के चक्कर से सदा के लिये छूट जायँ उन्हें सर्वप्रथम सभी प्रकार के अभिमानों का परित्याग करना होगा। मान की भाँति मोह भी बन्धन का कारण है, मोह होता है, संसारी विषयों में। यह मुझे मिल जाय, यह अविवेक से होता है।

संसार में संग-आसक्ति-का दोष लग जाता है। अच्छे बुरे जिसमें भी हमारी आसक्ति हो जायगी वैसे ही हम बन जायँगे। जैसी आसक्ति होगी वैसी ही योनि प्राप्त होगी, वैसा ही जन्म लेना पड़ेगा। अतः संसार से सदा के लिये मुक्त बनना हो तो सबसे आसक्ति छोड़े। इतने ज्ञानी, ध्यानी तेजस्वी तपस्वी राजर्षि जड़ भरत को भजन करते दयावश ही सही, हिरन में आसक्ति हो गयी। उन्हें इसी कारण हिरन बनना पड़ा। इसलिये निर्द्वन्द्व होकर परमपद को पाने का प्रबल प्रयत्न करने वाला ही उस अक्षय अविनाशी अव्यय पद को प्राप्त कर सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने शरणागत पुरुष के लक्षणों की जिज्ञासा की" तब भगवान् ने कहा—"अर्जुन! मेरा अव्यय परमपद अत्यन्त ही कठिन है, उसे सभी लोग प्राप्त नहीं कर सकते। मूढ़ लोगों के लिये तो यह पद अत्यन्त ही दुर्लभ

है। जो लोग विद्वान् हैं, महान् आत्मदर्शी तत्त्ववेत्ता हैं, जिनमें मूढ़ता का अभाव है, ऐसे ज्ञानी जन ही इस पद को प्राप्त कर सकते हैं।"

अर्जुन ने कहा—"यही तो मेरा प्रश्न है, मूढ़ता से रहित ज्ञानी जनों के लक्षण क्या हैं, हम कैसे जाने ये ज्ञानी हैं।"

भगवान् ने कहा—"जो मूढ़ता से रहित ज्ञानी पुरुष होते हैं वे मोह और मान से सर्वथा रहित होते हैं। उनमें अभिमान, मिथ्याहंकार, गर्व, स्तम्भ आदि नहीं होता। जन्म, कर्म, वय, रूप, विद्या, ऐश्वर्य, धन, जन, बल आदि को पाकर भी जिसे स्तम्भ-मद-मान, गर्व न हो समझो उन पर मेरी परम अनुग्रह है, वे मेरे परमपद के पाने के अधिकारी हैं। जो अहंकार और अविवेक से रहित हों और जिन्होंने सङ्ग के दोषों को जीत लिया हो।"

अर्जुन ने पूछा—"सङ्ग दोष को जीतने का अभिप्राय क्या है?"

भगवान् ने कहा—"जैसा संग होगा, जैसी आसक्ति होगी, वैसा ही संस्कार बनेगा, संस्कारानुसार ही अगला जन्म मिलेगा। किन्तु जो प्रिय को पाकर उसमें राग नहीं करते, अप्रिय के प्रति जिन्हें द्वेष नहीं। जो राग द्वेष में समभाव से रहते हुए सदा सर्वदा निःसंग बने रहते हैं, वे ही परमपद के अधिकारी होते हैं। वे नित्य ही अध्यात्म में स्थित रहते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"अध्यात्म में स्थिति होने का अभिप्राय क्या है?"

भगवान् ने कहा—"अरे, भैया! अध्यात्म तो मैं ही हूँ, जो सदा सर्वदा मेरे ही सम्बन्ध में कथन करते रहते हैं, मुझमें सन्तुष्ट रहते हैं, मुझमें ही रमण करते हैं वे ही अध्यात्म नित्य कहाते हैं, वे काम वासनाओं से सदा विनिवर्तित रहते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"विनिवृत्तकामा का क्या अर्थ है ?"

भगवान् ने कहा—"कामना कहते हैं, वासनाओं को जिनकी अशेष रूप से विषय भोगों की लालसा निवृत्त हो गयी हो। जिनमें विवेक वैराग्य सदा जागृत रहता हो ऐसे सुखदुःखादि द्वन्दों से विमुक्त पुरुष हो उस अव्यय पद को प्राप्त कर सकते हैं वे ही परमधाम में पहुँचने के अधिकारी हो सकते हैं।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! जहाँ जाकर फिर ज्ञानी पुरुष लौटता नहीं आपके उस परमधाम का स्वरूप क्या है ?"

भगवान् ने कहा—"वह मेरा परमधाम दिव्य है, परमप्रकाशमय है, आवागमन से रहित है।"

अर्जुन ने पूछा—"क्या भगवन् ! वहाँ एक की अपेक्षा अनेकों सूर्य हैं ? क्योंकि प्रकाश तो, या तो सूर्य में है, या चन्द्रमा तथा अग्नि, जल में है ? तो क्या वहाँ बहुत से सूर्य चन्द्र होंगे ?"

भगवान् ने कहा—"इस त्रिलोकी में रहने वाले सूर्य, चन्द्र और अग्नि के ही प्रकाश को जानते है। वहाँ का प्रकाश दिव्य है। वहाँ सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँच सकता और न वहाँ चन्द्रमा तथा तारागण ही प्रकाशित होते हैं। जब वहाँ सूर्य, चन्द्र, तथा तारा नक्षत्रों की ही गति नहीं है, तो फिर अग्नि तो प्रकाशित हो ही कैसे सकती है। वह स्वयं प्रकाश, ज्योतिस्वरूप अपनी ही आभा से आभासित होने वाला दिव्य लोक है उसी के प्रकाश से यह जगत् प्रकाशित हो रहा है। जो जिसका प्रकाश्य होता है, वह भला अपने प्रकाशक को प्रकाशित कैसे कर सकता है। वहाँ जो चला गया, वह फिर वहाँ से लौटता नहीं।"

वहाँ गया हुआ फिर लौटता नहीं यह कहना भी एक प्रकार से उपचार मात्र ही है, वास्तव में तो वह ऐसा धाम है, जिसमें आना और जाना दोनों ही नहीं बनते। वहाँ तो जीव का वास्त-

विक यथार्थ निवास का स्थान है। भ्रमवश अज्ञानवश मोह के कारण यह अपने को अन्य स्थान में अनुभव करता है। इसका स्थान तो सदानन्द, परमानंद, शान्त, शाश्वत, सुशिव परमपद ही है। जहाँ जीव मिथ्या मान मद आसक्ति द्वन्द्वादि दोषों से निवृत्त हुआ नहीं कि फिर उसे कहीं आना जाना नहीं पड़ता, अपने यथार्थ रूप का अपने यथार्थ धाम का वह अनुभव करने लगता है। किसी के गले में मणियों का हार है, उसे भ्रम हो गया है, मेरा हार खो गया है, वह चारों ओर खोजता फिरता है। कोई आदमी पूछता है—"आप इतने व्यस्त क्यों है क्या खोज रहे हैं ?"

वह कहता है—"मेरे कंठ का मणियों का हार खो गया है उसे ही ढूँढता फिर रहा हूँ।"

उस पूछने वाले ने कहा—"हार तो आपके कठ में है; तनिक कपड़े से ढका है, यह देखो।" वह हार को दिखा देता है हार को पाकर उसे प्रसन्नता होती है। वास्तव में हार कहीं चला थोड़े ही गया था, वह तो जहाँ का तहाँ ही स्थित था। केवल उसका ज्ञान करा दिया। ज्ञान होने पर वह कहीं से आ भी नहीं गया। यदि गया होता, तो आता, वह तो जहाँ का तहाँ बैठा था। भ्रमवश ही खोया था, भ्रमवश हो कहते हैं मेरा खोया हुआ हार पुनः प्राप्त हो गया। इसी प्रकार परमपद को कहीं दूर देश में जाना नहीं पड़ता। जीव अपने स्वरूप को अपने यथार्थ स्थान को प्राप्त करके उसका अनुभव करके सुखी हो जाता है। जीव जो अपने को अब तक सुखी दुखी अनुभव करता था, अब वह द्वन्द्वों से रहित होकर निरतिशय सुख को प्राप्त हो जाता है जीव का आवागमन सदा के लिये छूट जाता है।"

अर्जुन ने पूछा—'यह जीव है क्या ? इसका स्वरूप क्या है ? और यह एक शरीर से दूसरे शरीरों में जाता कैसे है ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे, उसका वर्णन मै आगे करूँगा।"

छप्पय

परमधाम मम नित्य परमपद जो कहलावै।
संग दोष तैं रहित पुरुष ज्ञानी जहँ जावै॥
जामें गयो मनुष्य लौटि जग फेरि न आवै।
जाकूँ सूरज नहीं प्रकाशित करिबे पावै॥
जहँ प्रकाश न चन्द्र को, नहीं अगिनि की पहुँच जहँ।
स्वयं प्रकाशित परमपद, भक्तिमान् जन रहत तहँ॥

जीव किस प्रकार शरीर से आता जाता है

[४]

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥*

(श्री भग० गी० १५ अ० ७, ८ श्लो०)

छप्पय

जहँ जीव नित रहैं जीव को लोक कहावै।
जहँ नित सोवै पुरुष देह तन जो कहलावै॥
वाको स्वामी जीव अंश मम नित्य सनातन।
वही प्रकृति में पैठ करैं मन इन्द्रिनि करषन॥
दश इन्द्रिय अरु ग्यारवों, मन ये सबई जड़ कहे।
इनहिं घुमावत जीव नित, वही हमारो अंश है॥

प्रकृति और पुरुष के संयोग से यह सृष्टि होती है। मूल

---

* इस जीव लोक में यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है। प्रकृति में स्थित हुई मन-सहित पाँचों इन्द्रियों को आकर्षण करता है। ७॥

जीवात्मा उसी प्रकार पहिले शरीर को त्यागकर मन इन्द्रियों को ग्रहण करके दूसरे शरीर को प्राप्त होता है। जैसे वायु गन्ध के स्थान से गन्ध को दूसरे स्थान में ले जाती है॥८॥

प्रकृति में जब क्षोभ या विकार होता है, तो उससे महत्तत्त्व होता है, जिसे बुद्धितत्त्व भी कहते हैं। उससे अहंकार होता है और सूक्ष्म पंच महाभूतों की अर्थात् शब्द, रूप, रस गंध और स्पर्श की—उत्पत्ति होती है। मूल प्रकृति एक है, आप पूछोगे, कि वह किसकी विकृति है, वह किससे पैदा हुई, तो दार्शनिक लोग कहते हैं, वह किसी की विकृति नहीं। वह अनादि है, अव्यक्त है। उससे जो सात विकृतियाँ हुईं वे प्रकृति की विकृति कहाती हैं इसलिये एक प्रकृति और सात प्रकृति विकृति मिलकर अष्ट प्रकृति कहलाती हैं। इन प्रकृति की विकृति की १६ विकृतियाँ विकार और हैं वे पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पंच स्थूल महाभूत और एक मन ये १६ विकृति हैं। अतः १+७+१६ इस प्रकार २४ तत्त्व हैं। दशों इन्द्रियों और ग्यारहवें मन की उत्पत्ति अहंकार द्वारा हुई है, पंच सूक्ष्मभूत अर्थात् तन्मात्राओं से पंच स्थूलभूत अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश की उत्पत्ति हुई है। ये सब मूल प्रकृति के २४ परिवार हैं। यह सम्पूर्ण परिवार क्षेत्र कहलाता है, इस क्षेत्र में न जाने कहाँ से एक किसान आ जाता है, वह किसान भी विलक्षण है, वह कुछ करता धरता नहीं। केवल देखता है, पता नहीं उसकी आँखों में कैसा जादू है, कि उसे देखते ही प्रकृति नाचने लगती है, अपना जाल बिछाने लगती है। द्रष्टा साक्षी रूप से उसे देखता रहता है। अब वह प्रकृति अपना पसारा फैलाती है। स्वयं उसमें कुछ करने की सामर्थ्य नहीं वह लुंज पुंज जड़ा है, किन्तु पुरुष के सान्निध्य से उसमें क्रिया आ जाती है, नाना प्रकार की सृष्टि होने लगती है। समष्टि का अभिमानी पुरुष है वही जब देहों में व्यष्टि रूप से अहंकार करने लगता है तो उसकी जीव संज्ञा हो जाती है। वह जीव क्या है। पंचभूत मन सहित ग्यारह इन्द्रियाँ अहंकार और महत्तत्व पंच प्राण और चैतन्यांश इन सब के मिले जुले संघात

का ही नाम जीव है। जब प्रकृति पुरुष के संयोग से ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति करती है तभी नाना प्रकार के जीव कर्म भोगों के निमित्त उत्पन्न होते हैं। यह संसार प्रवाह अनादि है, कोई यह कहने में समर्थ नहीं कि पहिले-पहिले जीव को अहंकार कैसे हुआ। यह अनादि परम्परा कब से चल रही है, इसे भगवान् ही जाने, कब तक चलेगी, इसे भी उनके अतिरिक्त कोई नहीं जान सकता। जीव अविद्या के कारण एक योनि से दूसरी योनि में मन इन्द्रियादि के सहित जाता आता रहता है। पहिला शरीर ज्यों का त्यों पड़ा रहता है, उसमें से जीव इन्द्रियों अन्तःकरण और तन्मात्रा तथा प्राणों को लेकर ऐसे उड़ जाता है, जैसे वायु पुष्प से गन्ध लेकर उड़ जाती है। अविद्या के कारण जीव अपने यथार्थ चैतन्य स्वरूप को भूलकर संसार के मिथ्या पदार्थों में धन, पुत्र, कलत्रादि में मोह करने लगता है, उन्हीं को अपना स्वरूप मानने लगता है और अपने को दुखी सुखी अनुभव करता है। जब तत्त्वज्ञान के द्वारा भगवद्भक्ति के द्वारा अपनी यथार्थ महिमा को जानने लगता है; तो यह अविद्या; माया निरोहित हो जाती है, उसे स्वरूप ज्ञान हो जाता है। जीव कोई जड़ पदार्थ नहीं, बद्ध नहीं, गुणों में बंधा हुआ नहीं, कर्मों में आसक्त नहीं वह तो चतन्यघन आनन्द और चित् स्वरूप श्रीहरि का अंश ही है। यह भी शुद्ध; बुद्ध और सनातन है। किन्तु माया में बद्ध होकर एक योनि से दूसरी में, दूसरी से तीसरी में परिभ्रमण करता रहता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने जीव के सम्बन्ध में जिज्ञासा की और यह जानना चाहा, कि यह एक शरीर से दूसरे शरीरों में कैसे आता जाता है, तो भगवान् कहने लगे—"अर्जुन!—यह जीव कहीं अन्यत्र से थोड़े ही आया है। यह मेरा

ही अंश है। जैसा मैं सनातन हूँ, वैसा ही यह मेरा अंश जीव भी सनातन है। मेरा अंश बँट गया है।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! आप में से बँट कैसे गया? आप तो अविभाज्य हैं।"

भगवान् ने कहा—"हाँ, यह बात तो सत्य है, कि मैं अविभाज्य हूँ। आकाश के सदृश परिपूर्ण हूँ। मेरा विभाग नहीं हो सकता। फिर भी जैसे आकाश में घटाकाश, मठाकाश के रूप में आकाश, महाकाश से भिन्न-सा प्रतीत होने लगता है, उसी प्रकार मैं सम्पूर्ण चराचर भूतों में विभक्त-सा प्रतीत होता हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—"विभक्त से होकर क्या अकेले ही आप दूसरी योनियों में चले जाते हैं?"

भगवान् ने कहा—"सो भी बात नही मै इस त्रिगुणमयी प्रकृति के सहारे, इस माया में स्थित होकर मन और पंच ज्ञानेन्द्रियों के सहित एक शरीर से दूसरे शरीर में चला जाता हूँ। जब तक शरीर मे जीव संज्ञा है, तब तक पंचप्राण दश इन्द्रियाँ और अंतःकरण के सहित ही रहता है। जहाँ भी जीव जायगा इन्हें साथ ही लेकर रहेगा। जैसे जीवात्मा ने एक शरीर को त्यागकर दूसरे शरीर में जाने की इच्छा की तो वह अन्तःकरण तथा इन्द्रियो को साथ लेकर ही जायगा। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ मन बुद्धि और अहंकार तथा पंचप्राण ये इसका साथ छोड़ते नहीं। इन्ही के कारण तो चैतन्यांश की जीव संज्ञा है।"

अर्जुन ने पूछा—"स्थूल शरीर तो यहाँ पडा ही रह जाता है, उसमें आँख, कान मुँह नाक, हाथ, पैर आदि इन्द्रियाँ भी ज्यों की त्यों बनी ही रहती हैं।"

भगवान् ने कहा—"जिन्हें तुम आँख, कान, घ्राणादि कह रहे हो, ये इन्द्रियों के गोलक हैं। इन्द्रियों के रहने के स्थान

झरोखे हैं। इन्द्रियाँ तो सूक्ष्म रूप से इनमें रहती हैं। जिन्हें तुम चमकती आँखें समझ रहे हो; वास्तव में वे चक्षु इन्द्रिय की गोलक हैं इसमें की सूक्ष्म इन्द्रिय शक्ति तो जीव के साथ चली जाती है, तभी यह निर्जीव-व्यर्थ बन जाती है। जैसे पुष्प है उसकी सुगंध को वायु ले जाकर दूसरे स्थान पर छोड़ देती है। ऊपर से देखने पर कोई यह नहीं कह सकता, वायु इसमें से किसी वस्तु को लेकर भग गयी। इसी प्रकार वायु जैसे गन्ध को पुष्प से उड़ा ले जाती है उसी प्रकार जीव भीतर बाहर, कर्म तथा ज्ञान की इन्द्रियों को प्राणों को लेकर दूसरी देह में जाता है। जाते समय पहिली देह को छोड़ जाता है और इन वस्तुओं के साथ दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाता है। क्योंकि वह ईश्वर है देह का स्वामी है, क्षेत्रज्ञ है।"

अर्जुन ने पूछा—"इन वस्तुओं को संग ले भी जाता है और उसे कोई देख भी नहीं सकता यह क्या बात है?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

जब तजि एक शरीर जीव अन्यनि में जावै।
तब अपने ई संग इन्द्रियनि मन लै जावै॥
करमनि के अनुसार तहाँ भोगनि कूँ भोगत।
देह पुरी में शयन करै सो पुरुष कहावत॥
वायु गन्ध थल जब तजहिं, गन्ध संग लै जात हैं।
तैसे देही तन तजै, करनहु संग लगात हैं॥

जीव को आते जाते केवल ज्ञान नेत्रों वाले ही देखते हैं

[५]

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवत ॥
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥*

(श्री भा० गी० १५ म० ९, १० श्लो०)

छप्पय

सब विषयनि कूँ जीव स्वयं ई भोगत नाहीं ।
आश्रय करननि करी करै उपयोग सदाहीं ॥
जैसो सुननो चहै श्रोत्र तै वह सुनि लेगो ।
देखन चाहै वस्तु चक्षु तै वह लखि लेगो ॥
रस चखिबो चाहै जबहिँ, रसना तै रस लेइगो ।
परस सूँघनो जब चहै, त्वचा नाक तै खाइगो ॥

---

* यह जीवात्मा श्रोत, चक्षु, त्वचा, रसना, घ्राण और मन को आश्रय करके इनसे द्वारा विषयों का सेवन करता है ॥९॥

इस शरीर छोडते को, शरीर में रहते को, भोग भोगते को और गुणों में रहते को अज्ञानी जन नहीं देखते । ज्ञान-चक्षु से केवल ज्ञानी पुरुष देखते हैं ॥१०॥

जब जीव का प्रकृति के गुणों के साथ सम्बन्ध हो जाता है तो वह प्रकृतिस्थ पुरुष कहलाता है। वैसे पुरुष तो निःसंग है वह न कर्ता है न भोक्ता है। फिर भी प्रकृति के संसर्ग के कारण प्रकृति जन्य उपकरणों द्वारा और प्रकृति से ही उत्पन्न भोगों को भोगता हुआ प्रतीत होता है, उसे कर्तृत्व का मिथ्याभिमान हो जाता है, उस मिथ्याभिमान के ही कारण उसे छोटी-बड़ी ऊँची-नीची योनियों में जन्म लेना पड़ता है। जो पुरुष प्रकृति के मंडल को पार कर गये हैं, प्राकृत गुणों से ऊपर उठ गये हैं, वे न तो अपने को कर्ता ही मानते हैं और न उनमें भोक्तृत्वपने का ही अभिमान रहता है। प्रकृति के संसर्ग से ही नित्य मुक्त शुद्ध पुरुष अपने को बद्ध मानने लगता है, भोगों की वासनायें ही उसे जन्म मृत्यु के चक्कर में घुमाती फिरती हैं।

वास्तव में ध्यान पूर्वक देखा जाय, तो भोग कौन करता है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं, पाँच कर्मेन्द्रिय हैं एक मन है, और भोगने के विषय शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पाँच हैं। कान अच्छे-अच्छे शब्दों को सुनना चाहते हैं। आँखें अच्छे-अच्छे सुंदर सुरूपों को देखना चाहती हैं। रसना-जिह्वा-सुंदर स्वादिष्ट रसों को चखना चाहती है। घ्राणेन्द्रिय सुंदर सुगंधित पदार्थों को सूंघना चाहती है। त्वचा इन्द्रिय सुंदर, मृदुल गुदगुदी सुखद वस्तुओं का स्पर्श चाहती है। इन्द्रियाँ भोक्ता हैं, और विषय भोजन हैं। वास्तव में देखा जाय तो इन्द्रियाँ भोक्ता नहीं हैं, वे तो भोग की उपकरण मात्र हैं। यदि मन न हो तो इन्द्रियों में भोगने की सामर्थ्य ही न रहेगी। हमारा मन यदि कहीं अन्यत्र है, चक्षु इन्द्रिय से उसका संयोग नहीं है, तो आँखें खुली रहने पर भी-देखते हुए भी-हम देख नहीं सकते। इससे सिद्ध हुआ कि आँखें जो सुरूप कुरूप को देखतीं हैं, वे मन के सहयोग से ही देखतीं

हैं। यों कहना चाहिये कि मन ही चक्षुओं के द्वारा देखता है। अकेली आँखों में देखने की क्षमता नहीं। इसी प्रकार समस्त इन्द्रियों के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिये। मन भी स्वयं नहीं देख सकता। मन तो जड़ है वह बेचारा क्या देखेगा। जब तक जीवात्मा उसको अनुमति न देगा। बहुत से लोग कहते हैं जल का यन्त्र पानी निकाल रहा है। गमन का यन्त्र दौड़ रहा है। यन्त्र में स्वयं पानी निकालने की या दौड़ने की शक्ति नहीं, जब तक कि उसे कोई चैतन्य चलावे नहीं, घुमावे नहीं। बिना चैतन्य के जड़ में क्रिया होना संभव नहीं।

माया अविद्या अथवा प्रकृति तब तक कुछ भी करने में समर्थ नहीं जब तक जीवात्मा मिथ्या ज्ञान के वशीभूत होकर अपने को कर्ता न मान ले। जब उसमें कर्तृत्व भोक्तृत्व मिथ्यारोप हो जाता है तब वही बद्ध जीव कहलाता है और वही मन, इन्द्रियों तथा प्राणों के द्वारा प्रकृतिजन्य भोगों का सेवन करता है। यद्यपि वह रहता शरीर में ही है; शरीर में वह न रहे, तो शारीरिक एक भी क्रिया संभव नहीं। किन्तु शरीर में रहते हुए भी अज्ञानीजन न तो उसी जीवात्मा को देख सकते हैं और न उसके भोग के उपकरणों–मन, प्राणों तथा इन्द्रियों को–ही देख सकते हैं। हाँ, तत्त्वज्ञानी विवेकी पुरुष इन चर्म चक्षुओं से नहीं–ज्ञान चक्षुओं से अवश्य इन सब को देख लेते हैं–अर्थात् अनुभव कर लेते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पुरुष और प्रकृति, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, जीव और माया, क्षर और अक्षर इनका प्रसंग जब छिड़ गया तो भगवान् ने कहा—"मैं इन दोनों से परे हूँ। मैं न पुरुष हूँ न प्रकृति हूँ, इन दोनों का स्वामी इन दोनों से विलक्षण पुरुषोत्तम हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—"जब आप भगवान्! पुरुषोत्तम हो, ब्रह्म हो, ईश्वर हो, परमात्मा हो कुछ करते धरते नहीं। खाते पीते नहीं, तो विषयों का भोग कौन करता है वस्तुओं का स्वाद कौन लेता है?"

भगवान् ने कहा—"जीवात्मा विषयों का भोग करता है?"

अर्जुन ने पूछा—"जीवात्मा को तो हमने भोग करते देखा नहीं। भोग तो शरीर द्वारा शरीरों में रहने वाली इन्द्रियों द्वारा होता है, भूख प्राणों को लगती है, जब भोज्य पदार्थ खा लेते हैं, तब तृप्ति हो जाती है स्वाद चखने की इच्छा रसना को होती है। स्वादिष्ट पदार्थ खा लेते हैं रसना तृप्त हो जाती है, मन में आता है, अमुक स्थान में चलें। वहाँ जाकर मन संतुष्ट हो जाता है, तो हम समझते हैं, विषयों का भोग मन, इन्द्रियाँ तथा प्राण करते है।"

भगवान् ने कहा—"प्राण, मन तथा इन्द्रियाँ उपकरण हैं, उनके द्वारा भोगता तो जीव ही है। मार्ग को पुरुष पार करता है, किन्तु किसी वाहन द्वारा करता है। इसी प्रकार यह जीवात्मा कानों द्वारा आँखों द्वारा, स्पर्शेन्द्रिय द्वारा, जिह्वा द्वारा, नासिका द्वारा तथा मन के द्वारा स्वयं ही विषयों का भोग करता है।"

जब एक शरीर को छोड कर जीव दूसरे शरीर में जाता है तब भी इन्द्रियों और अन्तःकरण तथा प्राणों को साथ लेकर उस शरीर को छोडता है। जब दूसरे शरीर में प्रवेश करता है, तब इनको साथ लेकर ही प्रवेश करता है। जब शरीर में स्थित रहता है तब इनको साथ लेकर ही स्थित रहता है, जब विषयों का भोग करता है, तब भी इनके ही द्वारा भोगो को भोगता है। कभी इसका सत्वगुण बढ़ जाता है कभी रजोगुण कभी तमोगुण। रहता है सदा गुणों से ही संयुक्त।

अर्जुन ने पूछा—"यह शरीर तो हमें दिखायी देता है। इसके चर्म, रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, शुक्रादि सभी वस्तुएँ दीखती है. किन्तु यह जीवात्मा नहीं दिखायी देता। यह जब शरीर का परित्याग करता है, तो छिपकर नहीं जाता सबके सामने शरीर त्याग कर जाता है, फिर भी यह दीखता क्यों नहीं है?"

भगवान् ने कहा—"अज्ञानी जीवों की आँखों पर अज्ञान का पर्दा पड़ गया है, जड़ता का जाला छा गया है। जिन आँखों में जाला छा जाता है, वे दूसरों को तो बड़ी-बड़ी दिखायी देती हैं, किन्तु वे आँखें स्वयं देखने में समर्थ नहीं होती। उनकी देखने की शक्ति विलुप्त हो जाती है। किन्तु कोई तत्त्वदर्शी विशेषज्ञ ज्ञान-रूपी अंजन लगाकर उस जाले को काट दे तो उसे दिखायी देने लगता है। इसी प्रकार अज्ञानी पुरुष तो इस जीवात्मा को आते-जाते शरीर में रहते और विषयों को भोगते हुए भी देखने में असमर्थ होते हैं, किन्तु जो ज्ञानी पुरुष हैं, जिनका अज्ञान नष्ट हो गया है, ऐसे पुरुष—इन चर्म चक्षुओं से नहीं—ज्ञान चक्षुओं से देख सकते है। वे ही तत्त्वज्ञान द्वारा जीवों की उच्चावच गतियों को जान सकते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"ज्ञानीपुरुष ज्ञान नेत्रों द्वारा इसे कैसे देखते हैं?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर भगवान् देकर अपनी दिव्य विभूतियों का जैसे वर्णन करेंगे, उस प्रसंग को मैं आपसे आगे वर्णन करूँगा, आशा है आप उसे समाहित चित्त होकर श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

देखत-देखत जीव एक तन तजिकें जावे।
देखत-देखत एक देह तें दूसरि आवै॥
इस्थित ह्वै कें देह गुननि के भोगनि भोगे।
आश्रय इन्द्रिनि करै विषय सुख साज सँजोगे॥
फिरि हू अज्ञानी पुरुष, जानत वाकूँ है नहीं।
ज्ञान रूप जिनि नेत्र हैं, पहिचानत ज्ञानी वहीं॥

सबमें भगवान् का ही तेज प्रकाशित हो रहा है

[६]

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥
यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥*
(श्री भग० गी० १५ म० ११, १२, १३ श्लो०)

छप्पय

करैं नित्य जो जतन, योगिजन वे ई जानें।
इस्थित हियमें रहे ताहि वे ई पहिचानें॥
होवै अन्तःकरन शुद्ध तब जानत जोगी।
ताहू तैं अभ्यास करें नहिँ विषयनि भोगी॥
योगी जो अभ्यासवश, आतम-तत्त्व कूँ जानते।
करैं भले अभ्यास हू, अज्ञ न ताहि पिचानते॥

---

* योगी पुरुष अपने आप में स्थित इस आत्मा को प्रयत्न पूर्वक देखते हैं, और अशुद्ध चित्त वाले अज्ञानी, प्रयत्न करने पर भी इसे नहीं

जीवात्मा इस शरीर में ही रहता है, वह अत्यन्त सूक्ष्म है, वह हृदयकमल में निवास करता है। योगिजन उसका साक्षात्कार करते हैं। उपासना करते-करते जिनका अन्तःकरण विशुद्ध बन गया है, ऐसे सदाचारी संयमी उपासक ही जीव का साक्षात् दर्शन कर सकते हैं। किन्तु जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं हुआ है, वे अशुद्ध अन्तःकरण वाले कितना भी प्रयत्न करें आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकते। वे जीव को देख नहीं सकते।

जीवात्मा या परमात्मा का दर्शन इन चर्मचक्षुओं से नहीं होता, वे तो ज्ञान के दिव्यचक्षुओं से दिव्य दृष्टि से देखे जा सकते हैं।

जो धोती मैली है, कोयलों के मल जमने से वह अत्यन्त काली हो गयी है, उस पर यदि आप लाल, पीला, हरा रंग चढ़ाना चाहें तो कभी न चढ़ेगा। यदि आप उस पर रंग चढ़ाना चाहते हैं, तो पहिले ही उस रंग में डुबोने का प्रयत्न न कीजिये। पहिले उसे रेह का मिट्टी से सज्जी से बार-बार धोइये। निचोड़ कर उसके मल को निकाल दीजिये पुनः सज्जी लगाइये पुनः पछारिये धोइये, निचोड़िये। इन क्रियाओं को तब तक करते रहिये जब तक वह स्वच्छ-मलरहित-निर्मल-विशुद्ध न बन जाय। जब

देख सकते ॥११॥

जो तेज सूर्य में स्थित होकर अखिल जगत् को उद्भासित करता है और जो तेज चन्द्रमा तथा अग्नि में स्थित है, उसे तुम यही समझो कि यह मेरा ही तेज है ॥१२॥

मैं ही पृथ्वी में प्रविष्ट होकर अपने ओज से सभी चराचर प्राणियों को धारण करता हूँ, रस स्वरूप चन्द्रमा बनकर सभी ओषधियों को पुष्ट करता हूँ ॥१३॥

निर्मल वस्त्र हो गया, फिर उस पर जो रंग चढ़ाओगे वही चढ़ जायगा। जब तक मल उसके प्रत्येक सूत्र में व्याप्त है तब तक तक उस पर दूसरा रंग चढ़ना असंभव है।

इसी प्रकार जिन्होंने शौच, संतोष, तप स्वाध्यायादि द्वारा उपासना मार्ग से अन्तःकरण को विशुद्ध नहीं बना लिया, तब तक वे लाख मन्त्र जप करें, कितना भी वेद शास्त्र का पारायण करें उन्हें सिद्धि न होगी विद्या, धन और शक्ति ये अच्छी वस्तुयें हैं, किन्तु शुद्ध अन्तःकरण वालों की विद्या ही ज्ञानदायिनी होगी। शुद्ध अन्तःकरण वालों का ही धन परोपकार, दान, पुण्य तथा यज्ञादि शुभ कार्यों में व्यय होगा। शुद्ध अन्तःकरण वालों की शक्ति ही दूसरे के संरक्षण करने में लगेगी। इसके विपरीत अशुद्ध अन्तःकरण वालों को भाग्यवश विद्या आ भी गयी तो उसका उपयोग वे वाद विवादों में ही करेंगे। ऐसे पुरुषों पर धन यदि आ गया तो उसको दुराचार, व्यभिचार, मादकद्रव्य पानादि कार्यों में ही व्यय करेंगे। ऐसे अशुद्ध अन्तःकरण वाले यदि शक्तिशाली भी हो जायँ तो उनकी शक्ति परपीड़न में ही व्यय होगी।

मौन, ब्रह्मचर्यव्रत, वेदाध्यन, तपस्या, स्वाध्याय, स्वधर्म-पालन, शास्त्रीय व्याख्या, एकान्तवास, मन्त्र, जप तथा अष्टाङ्ग योग की अंतिम स्थिति समाधि ये सब कार्य मोक्ष देने वाले हैं किन्तु ये शुद्ध साधन उन्हीं को मुक्ति देने में समर्थ होंगे; जिन्होंने अपने अन्तःकरण को इन्द्रियों को संयम द्वारा विशुद्ध बना लिया है, किन्तु जो अजितेन्द्रिय हैं, मलिन अन्तःकरण वाले हैं उनके लिये ये ही शुभ साधन खाना पीना चलाने के साधन बन जाते हैं; जीवन निर्वाह की वृत्ति व्यापार—वार्ता—बन जाते हैं। ...

समस्त साधनों के लिये अन्तःकरण की शुद्धि ...

अन्तःकरण की शुद्धि एक जन्म में नहीं होती, वह संशुद्धि अनेक जन्मों तक सावधानी से संयम पूर्वक साधना करने से आती है। जिन्होंने बहुत जन्मों तक तपस्या, यज्ञ, दान, धर्मादि शुभ कर्म किये हैं। निरन्तर शुभ कर्म करते-करते जिनके पाप क्षीण हो गये हैं अन्तःकरण विशुद्ध बन गया है, ऐसे क्षीणपाप पुरुषों का जन्म पवित्र कुल में, धार्मिक श्रीमानों के कुल में अथवा योगियों के कुल में होता है। ऐसे उपासक धार्मिक पावन कुल में जन्म बड़े भाग्यशालियों का होता है। वंश परम्परा का प्रभाव जीवन में अवश्य होता है। जिन्होंने जन्मान्तरों में साधना की की होगी, उन्हीं का जन्म विशुद्ध कुल में होगा और वे बाल्यकाल से ही संयम सदाचार पूर्वक उपासना में प्रवृत्त हो जायँगे और उनको जीवन के साथी भी, वैसे ही पावन पुरुष मिलेंगे। ऐसे ध्यान, धारणा करने वाले शुद्ध अन्तःकरण के पुरुष ही आते जाते जीव को ज्ञान दृष्टि से देख सकते हैं। यह बात इस दृष्टान्त से सिद्ध हो जायगी।

मद्र देश के एक अश्वपति नाम के राजा थे। वे गायत्री देवी के परम उपासक थे। भक्त चार प्रकार के होते हैं आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। दुःख निवृत्ति के लिये भक्ति करने वाले, मोक्ष की जिज्ञासा से भक्ति करने वाले, ज्ञाननिष्ठ होकर भगवान् की भक्ति करने वाले और किसी कामना विशेष से-अपनी कामना की पूर्ति के निमित्त-भक्ति करने वाले। सो राजा अर्थार्थी भक्त थे। राजा के कोई सन्तान नहीं थी। इसीलिये राजा ने कामना से पवित्रता पूर्वक गायत्री देवी का अनुष्ठान किया। वसे राजा बड़े धर्मात्मा थे। वे ब्राह्मणों के भक्त, सत्यव्रत, जितेन्द्रिय, याज्ञिक, दाता, चतुर, सर्वप्रिय, क्षमावान्, प्राणिमात्र के हितैषी, शान्त दान्त तथा तितिक्षु थे। वे मिताहार रहकर ब्रह्मचर्य व्रत

को धारण करके सावित्री देवी की उपासना करते और एक सहस्र गायत्री मन्त्र से हवन करके सायंकाल में एकवार मिताहार करते। इस प्रकार १८ वर्षों तक वे सावित्री देवी की उपासना करते रहे।

उनकी उपासना से गायत्री देवी प्रसन्न हुईं राजा को प्रत्यक्ष दर्शन देकर वर माँगने को कहा। राजा ने कहा—"माँ मैंने वंश वृद्धि के लिये आपकी उपासना की है। मुझे वंश बढ़ाने वाले पुत्र दीजिये।"

सावित्री देवी ने कहा—"जाओ तुम्हारे कुल की कीर्ति बढ़ाने वाली एक कन्या होगी।"

राजा ने कहा—"माँ! कन्या तो दूसरे कुल की श्री वृद्धि करने वाली होती है। मुझे तो पुत्र की अभिलाषा है।"

भगवती गायत्री ने कहा—' वह कन्या साधारण नहीं होगी। उसी के द्वारा उभय कुल की वृद्धि होगी और दोनों कुल की कीर्ति संसार में व्याप्त हो जायगी।"

भगवती जगन्माता सावित्री का वर सत्य हुआ। कमल नयनी सौन्दर्य की साकार मूर्ति, समस्त सद्गुणों की खानि सावित्री देवी के ही अंश से राजा के एक पुत्री हुई। वेदज्ञ ब्राह्मणों ने उसका नाम सावित्री रखा। जैसे शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की किरणें बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमा के दिन पूर्ण हो जाती हैं, वैसे ही राजकुमारी सावित्री सोलह वर्ष की हो गयी।

उन दिनों की ऐसी प्रथा थी, कि वर पक्ष के लोग स्वयं कन्या के पिता के समीप कन्या की याचना करने आते थे। किन्तु सावित्री की याचना करने महाराज अश्वपति के समीप कोई याचक नहीं आया। तब राजा ने कन्या से कहा—"पुत्रि! मेरे पास कोई याचक आया नहीं। स्वयंवर करने में कलह के

बना रहता है, अतः तू स्वयं ही जाकर अपने योग्य वर की खोज कर ला।" यह कहकर राजा ने मन्त्री पुरोहित साथ कर दिये कुछ सेवक सैनिकों के सहित सुता को विदा कर दिया।

सावित्री तो बड़ी सदाचारिणी, सुशीला, साध्वी धर्म परायणा थी, अतः उसने राजधानियों में राजकुमारों की खोज न करके तपोवनों के शांतवातावरण में रहने वाले तपस्वियों में वर की खोज की। जहाँ तपस्या में निरत ब्रह्मर्षिगण तथा बहुत राजर्षिगण निवास करते थे।

उसी तपोवन में शाल्व देश के द्युमत्सेन नाम के एक राजर्षि तपस्या करते थे, उनका राज्य शत्रुओं ने छीन लिया था, उनके चित्राश्व नाम का पुत्र था अतः राजर्षि स्वयं अन्धे हो गये थे, कुमार छोटा था अतः वे पत्नी पुत्र के सहित वनवास करते थे। पुत्र भी १८ वर्ष का हो गया था। वह सुन्दरता में अनुपम था। वह शूरवीर, जितेन्द्रिय, धर्म परायण, सत्यवादी, सुशील, उदार, दानी, प्रियभाषी, तथा प्रियदर्शन था। सावित्री ने उसे ही अपना पति वरण कर लिया। मन ही मन में उसे पति रूप में वरण करके वह चुपचाप पिता के समीप लौट आयी।

जिस समय सावित्री लौटकर अपनी राजधानी में आयी उस समय उनके पिता महाराज अश्वपति नारद जी से बातें कर रहे थे। पुत्री ने दोनों को प्रणाम किया। नारद जी ने पूछा—"यह बच्ची किसकी पुत्री है?"

महाराज ने कहा—"भगवन्! यह आपकी ही बच्ची है।"

नारदजी ने पूछा—"बच्ची तो विवाह योग्य है, अभी तक आपने इसका विवाह नहीं किया?"

"राजा ने कहा—"भगवन्! इसी की मुझे चिंता है, इसीलिये मैंने इसे मंत्री पुरोहित के सहित भेजा था। अब यही बतावेगी

इसने किस राजकुमार को वरण किया। बेटो ! बता दें तूने किस राजकुमार को अपने योग्य समझा ?"

लजाते हुए राजकुमारी ने कहा—"पिताजी ! मैंने शाल्वाधिपति राजर्षि द्युमत्सेन के पुत्र राजकुमार चित्राश्व को अपने योग्य समझा है।"

राजा ने नारदजी से पूछा—"भगवन् ! आप तो इन राजर्षि को जानते ही होंगे ?"

नारदजी ने कहा—"हाँ, मैं इन राजर्षि को भली भाँति जानता हूँ। बड़े सदाचारी यशस्वी तपस्वी हैं। ये अंधे हो गये थे। इनका पुत्र छोटा था। शत्रुओं ने इनका राज्य छीन लिया है, ये राज्यपाट से विहीन होकर वन में तपस्या करते हैं। इनका लड़का सर्वसद्गुण संपन्न है। इसे अश्वों से बड़ा प्रेम है, अश्वोंके चित्र बनाया करता है इसीलिये उसका नाम चित्राश्व है। वास्तव में तो उसको गुणालय कहना चाहिये; क्योंकि कोई भी सद्गुण ऐसा नहीं जो उसमें न हो। उसके माता-पिता सदा सत्य भाषण करते हैं, अतः यह भी सदा सत्य भाषण करता है अतः वनवासी ऋषियों ने उसका नाम सत्यवान् रख दिया है। सत्यवान् गुणों की खानि है. आपकी पुत्री भी अनुपम सुंदरी तथा परम गुणवती है; जोड़ी तो सर्वथा अनुकूल ही है, किन्तु एक बहुत बुरी बात है।"

राजा ने पूछा—"वह कौन-सी बुरी बात है ?"

नारदजी ने कहा—"वह राजकुमार अल्पायु है, आज से ठीक एक वर्ष पश्चात् वह मर जायगा। अतः राजकुमारी को उसे छोड़कर किसी दूसरे राजकुमार का वरण करना चाहिये।"

राजा ने तथा नारदजी ने कन्या को बहुत समझाया, किन्तु वह मानी ही नहीं। उसने कहा—"पिताजी ! एक वस्तु का दान

एक ही बार होता है, कन्या दान एक बार ही होता है, पिता की सम्पत्ति का पत्री डालकर बँटवारा एक ही बार होता है। मैंने जिसे एक बार पति वरण कर लिया है, उसे मै छोड़ नहीं सकती।"

राजा अश्वपति जी ने नारदजी की सम्मति से सावित्री का विवाह सत्यवान् के साथ कर दिया। अंधे राजा द्युमत्सेन अपनी सर्व सद्गुण सम्पन्ना वधू को पाकर सपत्नीक बड़े ही प्रसन्न हुए। सावित्री अपने राज्य भ्रष्ट सास ससुर की सदा सेवा में सन्नद्ध रहती। अपने पातिव्रत के प्रभाव से उसने पति को, सास, ससुर को अपने वश में कर लिया था। वे उसे प्राणों से भी अधिक प्यार करते।

नारदजी का बताया हुआ समय आया, तो सावित्री ने तीन दिन बिना कुछ खाये पीये तीन दिन का निराहार व्रत किया। चौथे दिन–जो सत्यवान् की मृत्यु का दिवस था--वह अपने सास ससुर और पति की अनुमति से सत्यवान् के साथ फल फूल और कुश समिधा लेने वन में गयी। फल फूल एक टोकरी में भरकर जब वह समिधा काटने लगे, तब उसके सिर में बड़े जोरों की पीड़ा हुई। सावित्री समझ गयी, उसे शीघ्र ही उतार लिया। वट की छाया में वह अपने पति के सिर को गोदी में रखकर शनैः शनैः दबाने लगी। तभी उसने देखा हाथ में पाश लिये एक काला पुरुष आ रहा है। वैसे देवता साधारण लोगों को दीखते नहीं। किन्तु सावित्री सती, साध्वी, तपस्विनी तथा समस्त सद्गुण सम्पन्ना थी। उसे यमराज के प्रत्यक्ष दर्शन हुए। उसने पूछा—"हे देव! आप मनुष्य तो हैं नहीं कौन है?"

यमराज ने कहा—"मै यम हूँ, तुम्हारे पति का समय पूरा हो गया है मैं उसे लेने आया हूँ।"

सावित्री ने कहा—"देव ! मैंने तो ऐसा सुना है, जिनकी मृत्यु सन्निकट होती है उन्हें आपके दूत लेने आते हैं। आपने अपने यमदूतों को न भेजकर स्वयं ही कष्ट क्यों किया ?"

यमराज ने कहा—"देवि तुम्हारा पति साधारण मनुष्य नहीं। यह सत्य है, सर्व साधारण मनुष्यों को मेरे दूत ही लेने आते हैं, किन्तु सत्यवान् धर्मात्मा, सर्व सद्गुण सपन्न तथा परम रूपवान् है, इसलिये इसे लेने मैं स्वयं ही आया हूँ। तेरा और इसका इतने ही दिन का संयोग था, अतः अब तू मुझे इसे ले जाने दे।"

सावित्री ने कहा—'आप सर्वसमर्थ हैं जो चाहे सो करें।'

वैसे जीवात्मा किसी को आते जाते दिखायी नहीं देता, किन्तु सावित्री तो परम साधिका पतिव्रता थी, उसने प्रत्यक्ष देखा—यमराज ने सत्यवान् के शरीर से अंगुष्ठमात्र पुरुष को बलपूर्वक निकाला और उसे अपनी पाश में बाँध लिया। उस अंगुष्ठमात्र पुरुष के निकलते ही सत्वान् का शरीर निष्प्राण हो गया, उसकी श्वास-प्रश्वास बंद हो गयी, उसकी आभा मंद पड़ गयी, शरीर क्रिया शून्य हो गया, अब तक जो परम सुंदर प्रतीत होता था, वह अब भयावह लगने लगा।

इस प्रकार सावित्री ने जीवात्मा को अंगुष्ठ के समान अपनी दिव्य दृष्टि से प्रत्यक्ष देखा था किन्तु अशुद्ध चित्त वाले सर्वसाधारण अविवेकी पुरुष प्रयत्न करने पर भी इसे नहीं देख पाते।

सावित्री अपने पातिव्रत के प्रभाव से अपने मधुर वचनों द्वारा यमराज से अपने पति को ही नहीं छुड़ा लायी अपितु उसने अपने पिता के लिये सौ पुत्र, अपने लिये सत्यवान् के औरस से सौ पुत्र, अपने ससुर को आँखों की प्राप्ति तथा राज्यप्राप्ति के वर भी प्राप्त कर लिये। यह तो पातिव्रत का माहात्म्य था, किन्तु अपनी

ध्यानादि साधना द्वारा उसने जीवात्मा को भी अपनी दिव्यदृष्टि से देख लिया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब अर्जुन ने यह जिज्ञासा की ज्ञाननेत्र वाले उसे किस प्रकार देखते हैं" तो भगवान् ने कहा—"अर्जुन ! देखो योगिजन इस आत्मा का ध्यान धारणा समाधि द्वारा साक्षात्कार करते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"कहाँ साक्षात्कार करते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"कहीं बाहर देखने थोड़े ही जाते हैं, वे तो अपने अन्तःकरण में ही स्थित आत्मा का अपने आप में ही साक्षात्कार करते हैं। वह साक्षात्कार प्रबल साधनों द्वारा होता है, यम नियमों का पालन करते हैं, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार द्वारा शरीर तथा मन को शुद्ध करके समाधि द्वारा उसका साक्षात्कार करते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"जो भी चाहे प्रयत्न करके आत्मा का साक्षात्कार कर सकता है ?"

भगवान् ने कहा—"सब के वश का यह काम नहीं है, केवल प्रयत्न करने से ही काम नहीं चलने का। सबसे पहिले तो अन्तःकरण की शुद्धि की अत्यंत आवश्यकता है। जो अकृतोपासक हैं, जिन्होंने यज्ञ, दान तपादि से अपने अन्तःकरण का शोधन नहीं किया है, ऐसे मलिन चित्त वाले विवेक शून्य, अकृतात्मा पुरुष यत्न करने पर भी, इसे देखने में समर्थ नहीं हो सकते। वह पद ऐसा ही है, उसे सूर्यादि अपने प्रकाश से प्रकाशित नहीं कर सकते।"

अर्जुन ने कहा—"संसार में जितना सूर्य, चन्द्र, तारागण तथा अग्नि आदि में प्रकाश हैं, वह प्रकाश कहाँ से आता है ?"

भगवान् ने कहा—"प्रकाशवालों में जो भी प्रकाश है, वह सब

मेरा ही प्रकाश है। मेरी विभूतियों से ही यह जगत् विभूतिवान् प्रतीत होता है।"

अर्जुन ने कहा—"विभूतियोग के प्रसङ्ग में तथा अन्य प्रसङ्गों में भी आप ने अपनी विभूतियों का वर्णन किया है, फिर भी मैं आपकी कुछ अन्य विभूतियों के सम्बन्ध में सुनना चाहता हूँ।"

भगवान् ने कहा—"अर्जुन! यह बात तो मैं पहिले ही बता चुका हूँ, कि मेरी दिव्य विभूतियों का कोई अन्त नहीं है, वे विभूतियाँ अनन्त हैं। फिर भी मैं तुमसे अपनी कुछ विभूतियों का वर्णन करता हूँ। देखो, सूर्य के तेज से ही यह चराचर त्रैलोक्य जगत् प्रकाशित होता है, तथा सूर्य के अदर्शन काल में चन्द्रमा तथा अग्नि द्वारा प्रकाशित होता है यह जो सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्नि में सम्पूर्ण जगत को प्रकाशित करने वाला तेज है, उसे तू मेरा ही तेज जान। मैं तेज ही नहीं, सबको धारण करने वाला तथा पोषण करने वाला भी हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—"धारण पोषण करने वाले आप कैसे हैं?"

भगवान् ने कहा—"समस्त भूतों को पृथ्वी धारण किये हुए है। इस मृण्मय जड़ पृथ्वी में ऐसी सामर्थ्य कहाँ है, जो सबको धारण कर सके। मैं ही इस पृथ्वी में प्रवेश करके देवता रूप से समस्त प्राणियों को धारण किये हुए हूँ। मैं ओज तेज तथा बल से इसमें प्रवेश करके इसको सुदृढ़ न बनाऊँ, तो यह मृत्तिका तो जल में ही घुल कर बैठ जाय। क्योंकि समस्त पृथ्वी जल पर ही स्थित है, पृथ्वी को जहाँ भी खोदो, वहीं जल ही जल दिखायी देगा। जल में यदि मिट्टी घुले तो सूख कर इधर-उधर छिन्न-भिन्न हो जाय। मैं इस पृथ्वी में प्रवेश करके इसे मर्यादित रखता हूँ,

इसे समस्त प्राणियों के रहने योग्य बनाये रखता हूँ। यह जो पृथ्वी की धारणा शक्ति है, यह मेरी ही शक्ति है।"

अर्जुन ने पूछा—"पोषण आप किस प्रकार करते हैं?"

भगवान् ने कहा—"समस्त प्राणी अन्न द्वारा ही पोषित होते हैं। अन्न ओषधियों द्वारा प्राप्त होता है। जो भी पदार्थ खाये जायँ उन सबकी अन्न संज्ञा है। जो भी खाया जाता है, सब ओषधियों द्वारा प्राप्त होता है। ओषधि उसे कहते हैं जो पृथ्वी में अंकुरित होकर पत्र, पुष्प और फलवती होकर पक कर विनष्ट हो जाय। इसमें वृक्ष, लता, तृण, वीरुध, वनस्पति सभी बीज से अंकुरित होने वाली वृक्ष जाति के पौधे आ गये। ये पौधे पैदा कैसे होते हैं? पहिले पृथ्वी में बीज बोया जाता है, जल से सींचा जाता है, किन्तु जब तक चन्द्रमा अपनी किरणों द्वारा अमृत रूप रस से उन्हें आप्यायन न कर दे उनका सिंचन न कर दे तब तक पुष्ट करने की शक्ति तथा सुस्वादुपना नहीं आता। चन्द्रमा में जो सोमरूप रस है, जिसके द्वारा वे ओषधियों को रस देकर उनका पोषण करते हैं वह रसमय सोम मैं ही हूँ। चन्द्रमा में जो सोम स्वरूप पोषण करने वाला अमृत है, वह मेरी ही विभूति है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् अपनी विभूतियों का और जो भी वर्णन करेंगे, उसे मैं आप से आगे कहूँगा।"

छप्पय

जग में तीनिहिं करैं प्रकाशित वस्तुनि सगरी।
सूर्य, चन्द्र अरु अगिनि दिखावत बन घर नगरी॥
करैं प्रकाशित जगत, सूर्य में ह्वैकें इस्थित।
जानो मेरो तेज सोइ तैं होहिं प्रकाशित॥
ऐसे ही जो चन्द्र में, और तेज जो अगिनि में।
अरजुन! तू यह जानि लै, तेज हमारो सबनि में॥

जीव चराचर जड़ चेतन हैं जगमें जेते।
धारन पृथिवी करे रहे इस्थित भू तेते॥
पृथिवी में नहिं शक्ति प्रविशि हौं ही पृथिवी में।
धारन सबकूँ करूँ सदा ई बसि भूमी में॥
हौं ही शशि महँ रस-अमृत, बनिकें सब सिंचन करहुँ।
जगमें जितनी औषधी, पुष्ट सबनि नित नित करहुँ॥

भगवान् ही पचाने वाले और सब कुछ हैं

[७]

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥
सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥❀

(श्री० भग० गी० १५ अ० १४, १५ श्लोक)

छप्पय

हौं ही बसिकें जठर माहिँ सब अन्न पचाऊँ ।
हौं वैश्वानर प्रान अपानहु सहित कहाऊँ ॥
सब देहनि में रहूँ ऊष्णता तहँ पहुँचाऊँ ।
जाते जीवैं जीव अगिनि आधार कहाऊँ ॥
भक्ष्य भोज्य अरु चोष्य जो, लेह्य चारि विधि वस्तु सब ।
तिनिको हौं पाचन करूँ, कहैं मोइ जठराग्नि सब ॥

❀ मैं ही वैश्वानर-जठराग्नि बनकर सभी प्राणियों के शरीर का आश्रय लेकर प्राण अपान से युक्त हुआ चारों प्रकार के अन्न को पचाता हूँ ॥१४ ।

मैं ही सभी के हृदय में संनिविष्ट हूँ । मुझी से स्मृति, ज्ञान और अपोहन होते हैं तथा सभी वेदों मे वेद्य वस्तु मैं ही हूँ ॥१५॥

हम लोग जो ईख से रस बनाकर उस रस को पकाकर राव, गुड़, शक्कर, बूरा, चीनी, खांड़ और मिश्री आदि मधुर पदार्थ बनाते हैं, उसके लिये कितने उपकरणों की आवश्यकता होती है। आग जलाने को भट्टी, ईंधन,अग्नि, कढ़ाई आदि छोटे बड़े बहुत से पात्र छानने को छन्ना, चलाने को कड़छी, मैल निकालने को पृथक् पात्र और न जाने क्या-क्या डालने को चलाने को, सुखाने को गूंदने को सामग्रियाँ चाहिये तब कहीं जाकर ये वस्तुएं बनती हैं, किन्तु पेट में न जाने कौन-सा देवता बैठा है, कि उसमें जो पदार्थ खाया जाता है उस खाये हुए पदार्थ को पकाकर पेट में ही उसका रस, रक्त, मेद, मांस, मज्जा, अस्थि, वीर्य और ओज इन वस्तुओं को कौन बना देता है। हाथी का भले ही बड़ा उदर हो या चींटी का छोटा उदर सभी में ये वस्तुएँ पककर बन जाती हैं, भीतर कोई कढ़ाई करछुल या पात्र भी दिखायी नहीं देते। जलती हुई अग्नि भी दिखायी नहीं देती जिस पर पकाकर रस रक्तादि धातुएँ बनाई जायँ। उदर में जलती हुई अग्नि में, माता के गर्भ में-उदर के भीतर-बहुत दिनों तक बच्चा वास करता है, वह जलता नहीं। उलटे उस अग्नि के समीप ही उसका पालन पोषण होता है। कैसी विचित्र बात है, एक ओर तो भट्टी जल रही है, उसी के समीप कोमल निरीह शिशु का पोषण पालन होता है, उस अग्नि से वह सूखता नहीं जलता नहीं। भट्टी की अग्नि कभी बुझती नहीं उसमें क्रमशः सात धातुएँ पकती रहती है। भट्टी रात्रि-दिन जलती रहती है।

यह भट्टी किसी कारीगर की कृति नहीं वह स्वयं ही अग्नि बनकर बड़ी युक्ति से खाये हुए अन्नों को पकाकर भीतर जाते ही दो भाग कर देता है, एक को रस कहते हैं, दूसरे को किट्ट

या मल। मल को मल स्थान में भेजकर रस को पकाकर उसके भी दो भाग कर देता है, एक शुद्ध रस दूसरा मल। शुद्ध रस को पकाकर उसके भी दो भाग कर देता है, एक रक्त दूसरा मल। रक्त को पकाकर दो भाग कर देता है, एक मांस दूसरा मल। मांस को भी पकाकर उसके दो भाग कर देता है. एक मल दूसरा मेद। मेद को भी पकाकर उसके दो भाग कर देता है एक मल दूसरा मज्जा। मज्जा को भी पकाकर उसके दो भाग कर देता है एक हड्डी दूसरा मल। हड्डी को भी पकाकर एक शुक्र या वीर्य शेप उसका मल। निर्मल वीर्य को पकाकर उसका ओज बना देती है। इस क्रिया को कौन करता है? जठराग्नि करती है। जठर में जलते हुए *वैश्वानर करते हैं। ये वैश्वानर कौन हैं?* ये साक्षात् भगवान् है। भगवान् ही सबके उदरों में बैठकर प्राणियों को जीवन दान देते रहते है। इतना परिश्रम करने पर भी भगवान् को कोई कष्ट नहीं, कोई मोह ममता तथा बन्धन नहीं। वे निर्मल निर्लेप, सुख दुःख से परे अकर्ता बनकर हँसते रहते हैं। कैसी है उनकी लीला। कैसी है उनकी अपरम्पार माया।

सूतजी कहते है—"मुनियो! जब अर्जुन ने भगवान् से अपनी और विभूतियों के सम्बन्ध में जिज्ञासा की, तो भगवान् ने कहा—अर्जुन! सब प्राणियों के उदर में वैश्वानर-जठराग्नि-भी मेरी विभूति है। मैं जठराग्नि का रूप रखकर समस्त प्राणियों के शरीर मे निवास करता हूँ।"

अर्जुन ने कहा—'वहाँ आप क्या काम करते हैं भगवन्?'

भगवान् ने कहा—"वहाँ मैं प्राणियों द्वारा खाये हुए चार प्रकार के अन्नों को पकाया करता हूँ। पाचक का कार्य करता हूँ।"

अर्जुन ने कहा—"चार प्रकार के अन्न कौन-कौन से हैं, और आप उन्हें कैसे पचाते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"जो दाँतों से काटकर चबाये जायँ, चबाकर निगले जायँ, उन्हें भक्ष्य अन्न कहते हैं। जैसे रोटी, मालपूआ चना चबैना आदि कड़े पदार्थ। इनमें चना चबैना चर्व्य हैं, शेष भक्ष्य। चर्व्य और भक्ष्य एक ही बात है। दूसरे पदार्थ भोज्य कहलाते हैं। उनमें दाँतों को बहुत परिश्रम नहीं करना पड़ता केवल जिह्वा से बिलोकर निगल जाते हैं। जैसे कढ़ी भात, हलुआ आदि। तीसरे पदार्थ लेह्य कहलाते हैं। जो जीभ से चाटे जाते हैं, जैसे चटनी, सोंठ, गुड़ की राब, तथा विविध भाँति के अवलेह आदि।"

चौथे पदार्थ हैं चोष्य-जो दाँतों से दबाकर उसके रस-रस को तो निगल जायँ। छूँछ को उगल दें। जैसे ईख, आम, अननास, सन्तरे, मीठी खट्टे नीबू आदि। इन चार प्रकार के अन्नों को प्राणी मुख के द्वारा खाकर उदर में पहुँचाते हैं। उदर में मैं वैश्वानर का रूप रखकर बैठा रहता हूँ। पक्वाशय की भट्टी में प्राण और अपान के द्वारा जठराग्नि को प्रदीप्त करके उन चार प्रकार के अन्नों को मैं ही पचाता हूँ। अन्न भोज्य है और वैश्वानर अग्नि ही पचाकर उसका भोजन कर लेता हूँ। अतः उदरस्थ वैश्वानर मेरी विभूति है। विभूति क्या हैं सब मैं ही मैं हूँ।"

अर्जुन ने कहा—"आप ही आप कैसे हैं, भगवन् ?"

भगवान् ने कहा—"देखो, मैं ही सबके हृदय में विराजमान होकर सब कार्यों को करा रहा हूँ। देखो, बहुत दिन देखी सुनी घटना विस्मृत हो जाती है, आदमी भूल जाता है, फिर प्रसंग आने पर पुनः उसकी 'स्मृति' हो उठती है। वह स्मृति कहाँ से

आती है ? वह मुझसे ही आती है, मैं ही स्मरण कराता हूँ। वस्तुओं का यथार्थज्ञान भी मैं ही कराता हूँ। और ऊहा पोह द्वारा—तर्क वितर्क करके—दोनों का नाश भी मेरे ही द्वारा होता है। अर्थात् स्मृति, ज्ञान तथा अपोहन ये मुझसे ही होते हैं।"

समस्त वेदों में अनेक देव, उपदेवादिकों का वर्णन है, किन्तु वास्तव में एक मात्र मैं ही वेद्य हूँ—जानने योग्य हूँ—। वेदान्त का कर्ता भी मैं ही हूँ और यथार्थ रूप से वेदों को जानने वाला भी मैं ही हूँ। मेरे द्वारा ही यह समस्त प्रपञ्च सचालित हो रहा है।

अर्जुन ने कहा—"भगवन् पहिले आपने प्रकृति पुरुष रूप से वर्णन किया फिर क्षेत्र क्षेत्रज्ञ रूप से वर्णन किया, फिर जीव और जगत के रूप से वर्णन किया। इस विषय को आप मुझे स्पष्ट रूप से समझाइये वैसे तो आप सर्वरूप है, सभी आपसे हुआ है, किन्तु वास्तव में प्रकृति पुरुष, क्षेत्र क्षेत्रज्ञ, जीव जगत् इसमें कौन आपका व्यवहारिक रूप है औरकौन-सा पारमार्थिक ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

हौं ही घट-घट रहूँ कहें सब अन्तरजामी।
प्रानिनि में नित वास करूँ प्रानिनि को स्वामी॥
मोई तैं सब ज्ञान और इस्मृति हैं मोतैं।
दूरी ऊहापोह होहिं सु अपोहन मोतैं॥
हौं ही जानन जोग्य हूँ, सब वेदन तैं एक मैं।
कर्ता हौं वेदान्त को, वेदनि ज्ञाता एक मैं॥

क्षर अक्षर और पुरुषोत्तम

[८]

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥*

(श्री भग० गी० १५ अ० १६, १७, १८ श्लो०)

छप्पय

जग में द्वै ई पुरुष तीसरो कोई नाईं ।
नाशवान है एक द्वितिय अविनासी भाईं ॥
क्षर, अक्षर हू कहें पुरुष को भेद बतावें ।
क्षर है जावें नष्ट नहीं अक्षर नसि जावें ॥
सब भूतनि के देह जो, नाशवान ते सब कहे ।
अविनाशी जीवातमा, अक्षर बनिकें यह रहे ॥

---

* इस लोक मे क्षर और अक्षर ये दो ही पुरुष हैं। सम्पूर्ण प्राणी तो नाशवान् हैं तथा कूटस्थ ब्रह्म को अक्षर कहा जाता है ॥१६॥

इन दोनों मे परे उत्तम पुरुष अन्य ही है। जो तीनो लोकों में प्रवेश करके लोको का भरण-पोषण करता है, उसे अव्यय, ईश्वर, पर-

गीता शास्त्र में स्थान-स्थान में जीव और जगत् के भिन्न-भिन्न नाम आये हैं। कहीं तो जीव को पुरुष और जगत् को प्रकृति कहा है। कहीं प्रकृति शब्द के ही दो भेद कर दिये हैं, परा और-अपरा। परा प्रकृति तो जगत् है, अपरा प्रकृति की जीव संज्ञा है। यहाँ जीव को भी प्रकृति के समान स्त्री लिंग ही बता दिया है।

कहीं क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के नाम से और कहीं क्षर और अक्षर के नाम से जीव और जगत् को कहा है। किन्तु इन दोनों से एक विलक्षण पुरुष है, जो इन दोनों से उत्तम है। वह प्रकृति से भी परे है और पुरुषों से भी उत्तम है, इसीलिये उसकी पुरुषोत्तम संज्ञा है। उस पुरुषोत्तम को ही ब्रह्म कहो, परमात्मा कहो, *भगवान् कहो, अव्यय अविनाशी, ईश्वर तथा परमेश्वर आदि* अनेक नामों से पुकारा जाता है।

श्रुति ने इसका एक रूपक बाँधा है। जगत् रूपी एक बहु-शाखा तथा जड़ों वाला अश्वत्थ-पीपल-का एक वृक्ष है। उसकी जड़ें सर्वत्र व्याप्त हैं। यह अनादि वृक्ष है। इस वृक्ष पर दो सुन्दर-सुन्दर पंखों वाले पक्षी बठे हुए हैं। दोनों एक से ही हैं। अश अशी भले ही हों किन्तु उनकी चेतन्यता में समानता है। एक से होने पर भी दोनों मे एक बड़ा अन्तर है। इनमें से एक पक्षी तो पीपल के जो पिप्पली नाम के स्वादिष्ट फल हैं उन्हें खाता है, किन्तु दूसरा पक्षी इतने स्वादिष्ट फलों के मध्य में बैठा हुआ भी खाता नहीं है। केवल साक्षी मात्र बनकर उनको निहारता रहता है, वह स्वाद नहीं चखता देखता रहता है।

मात्मा इन नामों से कहा जाता है ॥१७॥

जिससे मैं क्षर से अतीत और अक्षर से भी उत्तम हूँ, इसलिये मैं लोक तथा वेद में पुरुषोत्तम के नाम से प्रसिद्ध हूँ ॥१८॥

इसका परिणाम यह होता है, कि फल खाने वाला पक्षी स्वादु फलों के लोभ से दीन बन जाता है। मोह में पड़ जाता है, फलों के स्वाद के कारण मोहित हो जाता। जो किसी पर मोहित होगा उसे शोकाकुल बनना ही पड़ेगा। जब वह अपने विलक्षण साथी की महिमा को देखता है, उसकी निस्पृहता, उदासीनता आदि गुणों का ध्यान करता है, तो शोक से रहित हो जाता है। उसका समस्त शोक मोह नाश हो जाता है। अभी तक तो वह फल खाने वाला पक्षी अपने से इस न खाने वाले पक्षी में असमानता का अनुभव करता था। क्योंकि वह तो कर्ता भोक्ता अपने को माने बैठा था। यह कर्तापने और भोक्तापने से अपने को विरत किये हुए था। यह फल खाने वाला मोहित हुआ शोचमग्न था, यह माया मोह से रहित सर्वथा शोकशून्य बना हुआ है। अतः जिस समय यही कर्ता भोक्ता बना पक्षी इस सुवर्ण वर्ण वाले साक्षी दृष्टि पक्षी को देखता है, जो ब्रह्माजी के भी उत्पत्ति का स्थान है और जो इस जगत्रूपी अश्वत्थ वृक्ष का भी कर्ता है; तो उसके ध्यान मात्र से ही यह जो अब तक शोक मोह में डूबा था, पाप पुण्य दोनों ही मलों को त्याग कर निर्मल बन जाता है फिर वह कर्ता भोक्तापने के अभिमान को छोड़कर उस सुवर्ण वर्ण के पक्षी की परम साम्यता को प्राप्त हो जाता है। वह अपने को भी उसके समान ही अनुभव करने लगता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने प्रकृति पुरुष, क्षेत्र क्षेत्रज्ञ तथा परा अपरा प्रकृति के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त करनी चाही, तो भगवान् ने कहा—"देखो, अर्जुन! इस संसार में दो ही पुरुष हैं।"

अर्जुन ने कहा—"पुरुष किसे कहते हैं?"

भगवान् ने कहा—"इस शरीर रूप पुर में जो शयन करते हों, तान दुपट्टा सोते रहते हों, वे ही पुरुष हैं। इस शरीर में दो ही तत्त्व हैं एक नाशवान् दूसरा अविनाशी जो शरीर के नाश होने पर-मरने पर-भी नाश नहीं होता, मरता नहीं। नाशवान् का नाम क्षर है और अविनाशी का नाम अक्षर है।"

अर्जुन ने कहा—"क्षर कौन सा है अक्षर कौन सा है?"

भगवान् ने कहा—"समस्त प्राणियों के जो पांच भौतिक शरीर हैं, उन्हीं को क्षर संज्ञा है, किन्तु जो इसमें कूटस्थ जीवात्मा विराजमान है, वह अविनाशी है, यह शरीरों के नाश होने पर भी नाश नहीं होता।"

अर्जुन ने कहा—"क्षर तो यह दृश्य जगत् है अक्षर जीवात्मा है। ये ही दो हैं या इनसे परे भी कोई तत्त्व है?"

भगवान् ने कहा—"हाँ, इनसे भी परे इनसे भी उत्तम, इन दोनों से भी विलक्षण एक तीसरा पुरुष भी है। वह पुरुष उत्तम है अतः उसकी पुरुष संज्ञा न होकर 'पुरुषोत्तम' संज्ञा है। वह जीवात्मा न कहाकर जीव से परम-महान्-होने के कारण परमात्मा कहलाता है।"

अर्जुन ने पूछा—"यह परमात्मा करता क्या है?"

भगवान् ने कहा—"परमात्मा कर्ता धर्ता कुछ भी नहीं, वह तो अन्तर्यामी रूप से तीनों लोकों में प्रवेश कर जाता है, इसी से समस्त प्राणियों का—सभी भूतों का-धारण पोषण होता रहता है। इसीलिये यह परमात्मा ही ईश्वर के नाम से विख्यात है।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! पुरुषोत्तम का अर्थ क्या हुआ?"

भगवान् ने कहा—"देखो, पुरुषोत्तम कोई दूसरा नहीं। मेरा ही नाम पुरुषोत्तम है, मुझे ही लोग-पुरुषोत्तम नाम से

पुकारते हैं। क्यों पुकारते हैं ? इसलिये कि यह जो क्षर—नाशवान् जगत्—है। यह जड है इसकी जड़ वर्ग संज्ञा है। मैं इस जड़ जगत् से सर्वथा अतीत हूँ। और जो यह मेरा चैतन्यांश जीव है, जो मेरे ही समान अविनाशी है, किन्तु माया मोह के संसर्ग के कारण— माया में स्थित रहने के कारण—मैं इस पुरुष से भी उत्तम हूँ। अतः क्षर से अतीत और अक्षर पुरुष से उत्तम होने के कारण ही मैं पुरुषोत्तम नाम से प्रथित हूँ-प्रसिद्ध हूँ—। सब लोग इसी कारण से पुरुषोत्तम नाम से मुझे पुकारते हैं। वास्तव में तो मैं नाम रूप से सर्वथा सर्व काल में पृथक् ही बना रहता हूँ।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! यह तो आपने पुरुषोत्तम नाम की बहुत ही विलक्षण व्याख्या सुनायी। अब मैं यह जानना चाहता हूँ, सब लोग तो आपकी महिमा को जान नहीं सकते। जो भाग्यशाली निष्पाप पुरुष आपके पुरुषोत्तम नाम की महिमा को जान जाते हैं, उन महाभाग पुण्यश्लोक पुरुषों की महिमा तथा उनके लक्षणों को मैं और आपके श्रीमुख से श्रवण करना चाहता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के पूछने पर भगवान् पुरुषोत्तमज्ञ पुरुष की महिमा तथा उसके लक्षणों को बतावेंगे, उसे बताकर फिर इस प्रसंग की जैसे परिसमाप्ति करेंगे उसे मैं आप सब को आगे बताऊँगा।"

छप्पय

छर अच्छर तें परे पुरुष इक उत्तम भाई।
पुरुषोत्तम परमात्म निरञ्जन नित कहलाई॥
सब लोकनि में प्रबिसि सबनि कूँ जीवन देवै।
नहिँ भोगे फल करम नहीं कछु देवै लेवै॥
जावै नहिँ आवै कहूँ, साक्षी बनि निरखत रहत।
वाही कूँ परमातमा, वेद विज्ञ ईश्वर कहत॥

पुरुषोत्तम क्यों नाम परचो सो तोइ बताऊँ।
पुरुषोत्तम को भेद सबिधि पारथ! जतलाऊँ॥
छर तैं तो हूँ परे नाश नहिँ होवै मेरो।
अछर जो हैं जीव जानि मेरो वह चेरो॥
दोऊ छर अछर सदा, जे अधीन मेरे रहैं।
तातैं लोकहु वेद में, पुरुषोत्तम मोकूँ कहैं॥

पुरुषोत्तमयोग और उसके ज्ञाता की महिमा

[६]

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥*

(श्री० भ० गी० १५ अ० १९, २० श्लो०)

छप्पय

नाशवान क्षर कह्यो अंश अक्षर कहलावै ।
मैं हूँ अंशी एक वेद उत्तम बतलावै ॥
जो नहिं होवै मूढ़ कहैं ताकूँ नर ज्ञानी ।
ताही ने यह तत्त्व बात निश्चय करि मानी ॥
मोकूँ पुरुषोत्तम समुझि, विज्ञ नहीं संशय करत ।
परमेश्वर अजरूप तैं, वे नित मोई कूँ भजत ॥

---

* हे भारत ! इस भाँति जो विज्ञ पुरुष मुझे पुरुषोत्तम रूप में जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सर्वभाव से मुझे ही भजता है ॥१९॥
हे निष्पाप भारत ! इस प्रकार मैंने तुमसे यह गुह्यातिगुह्य शास्त्र कहा । इसे जानकर बुद्धिमान पुरुष कृत-कृत्य हो जाता है ॥२०॥

मनुष्य जीवन का एकमात्र फल यही है कि भगवान् की सर्व-भाव से शरण ग्रहण कर ले। इसके लिये सत्पुरुषों का संग अत्यंत आवश्यक है। सत्पुरुषों की–भगवत् भक्तों की–मोटी पहिचान यही है, कि उनके यहाँ नित्य नियम से हरि कथा होती हो और जिनके समस्त कार्य भगवान् के ही निमित्त होते हों। जिन्होंने इस बात का दृढ़ निश्चय कर लिया है, कि इस असार संसार में भगवान् का भजन ही सार है और सभी निस्सार है, ऐसे पुरुष भगवान् के भजन को छोड़कर अन्य किसी कार्य में मन कैसे लगावेंगे। किसी भी निबन्ध में चार बात देखी जाती हैं। विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध और अधिकारी। यह प्रबन्ध किस विषय में है। इस विषय के कथन का उद्देश्य–प्रयोजन–क्या है? किन-किन सम्बन्धों से यह विषय सिद्ध होता है। और इस विषय के अधि-कारी कौन हैं?

श्रीमद्भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय में विषय तो हैं पुरुषोत्तम योग। भगवान् से योग कैसे हो। प्रयोजन यह है भग-वान् की शरण में जाना। शरण में कैसे जाया जाय। तो सबसे पहिले शरणागत में विघ्न है, संसाररूप उलटी जड़ वाला अश्वत्थ वृक्ष। सबसे पहिले तो असंग शस्त्र से इसे काट दो। "असङ्ग शस्त्रेण दृढेन छित्वा" काटकर करें क्या? इस संसार वृक्ष को काटकर उन आद्यपुरुष–पुरुषोत्तम–की शरण में जाओ। उनकी शरण में कैसे जायँ? तो कहते हैं निर्मान निर्मोह होकर, संग-जनित दोषों को जीतकर, विषय भोगों से दूर रहकर, निरन्तर भगवत चिंतन में तत्पर होकर उनका चिंतन करो। इससे होगा क्या? अव्ययपद को प्राप्त कर लोगे। इसके अधिकारी कौन हैं? जो भगवान् को सम्पूर्ण भाव से भजता है। अर्थात् अपना तन, मन, धन तथा सर्वस्व सच्चिदानन्द स्वामी को समर्पित करके

एकनिष्ठ होकर उन्हीं का भजन निरन्तर करता है। जो सर्वतो भाव से प्रभु के प्रपन्न हो गया है। ऐसा प्रपन्न पुरुष--मोह ममता का परित्याग करने वाला भगवद् भक्त पुरुष--ही भगवान् की महिमा का वर्णन कर सकता है।

दक्षिण में एक दक्षिण मथुरा है, जो मदुरा के नाम से विख्यात है। पूर्वकाल में वहाँ बलदेव नाम के राजा राज्य करते थे। वे बड़े ही न्यायकारी तथा प्रजावत्सल भूपति थे। वे प्रजा के लोगों के कष्टों को जानने के लिये रात्रि में वेष बदलकर घूमा करते थे। और घूम-घूमकर कौन दुखी है, कौन सुखी है, कौन कष्ट में है, किसे कौन दुख दे रहा है, इसकी जानकारी करते और फिर उनके दुःखों को दूर करने का प्रयत्न करते।

एक दिन राजा ने रात्रि में देखा एक वृक्ष के नीचे एक ब्राह्मण बैठा है। एकान्त निर्जन स्थान में अकेले ब्राह्मण को देखकर राजा ने उनसे पूछा—"द्विजवर ! आप यहाँ अकेले क्यों बैठे हैं ?"

ब्राह्मण ने कहा—"भाई, मैं गंगा स्नान के निमित्त जा रहा हूँ। यहाँ रात्रि हो गयी। रात्रि बिताने को इस वृक्ष के नीचे ठहर गया। प्रातः यहाँ से अपने गन्तव्य स्थान को चला जाऊँगा।"

राजा ने कहा—'ब्रह्मन् ! आपकी बातों से पता चलता है, है, आप ज्ञानी पुरुष हैं, आप अपने अनुभव की कुछ बातें मुझे बताइये।"

इस पर ब्राह्मण ने कहा—'देखो, भैया--मैंने तो यही अनुभव किया है, कि आठ महीने मन लगाकर परिश्रम करे, जिससे वर्षा ऋतु के चार महीने सुख पूर्वक बिता सके। युवावस्था में इतना अर्जन करले कि वृद्धावस्था को आनन्द पूर्वक बिता सके, और इस लोक में भजन ध्यान करके इतनी कमाई करले कि परलोक में सुख पूर्वक रह सके।"

राजा की आँखें खुल गयीं। राजा पर सच्चे तथा त्यागी ब्राह्मण के इन शब्दों का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। अब वे रात्रि दिन सज्जन पुरुषों का संग किया करते। भगवान् की कथा सुनते संत महात्माओं का सत्संग करते। उनसे अपनी शंकाओं का समाधान करते।

एक समय उन्होंने सभी सम्प्रदाय के बड़े-बड़े विद्वानों का एक बड़ा भारी बृहद् सम्मेलन किया। उस सम्मेलन में बहुत बड़े-बड़े विद्वान् शास्त्रज्ञ तत्त्वमर्मज्ञ पंडित एकत्रित हुए। राजा पर महान् आलवार संत विष्णुचित्त के उपदेश का अत्यन्त ही प्रभाव पड़ा। श्रीविष्णुचित्त स्वामी ने कहा था—"भगवान् श्रीमन्नारायण ही इस सम्पूर्ण सृष्टि के निर्माता, पालक और अन्त में संहार कर्ता हैं। वे ही सर्वश्रेष्ठ हैं, वे ही सर्वोपरि हैं। उन्हीं के पादपद्मों में सर्वतोभाव से अपना जीवन समर्पित कर देना चाहिये। यही कल्याण का एकमात्र सर्व सुलभ साधन है। वे श्रीमन्नारायण ही हमारे रक्षक हैं। वे ही पृथ्वी पर समय-समय पर अवतरित होकर साधुओं का परित्राण और दुष्टों का दमन तथा धर्म का संस्थापन किया करते हैं। इस प्रकार संसार से सदा के लिये छूटने के निमित्त दृढ़ विश्वास के साथ अपना सर्वस्व उन्हें ही समर्पित करके निरन्तर उन्हीं की आराधना में निमग्न रहना चाहिये और उन्हीं के सुमधुर लोक पावन नामों का जप करना चाहिये तथा उन्हीं के गुणों को निरन्तर श्रवण करना चाहिये।"

राजा इनके उपदेश से कृतार्थ हो गये। ये संत राजा की सभा में स्वतः किसी कामना से नहीं आये थे। भगवान् के आदेश से ही इनका यहाँ आना हुआ था। बात यह थी, कि बाल्यकाल से ही इनका भगवान् के चरणारविन्दों में अनुराग था। जब इनका यज्ञोपवीत संस्कार हो गया, तो भगवत् प्रेरणा से ही इन्होंने

अपना तन, मन, धन तथा सर्वस्व भगवान् के चरणों में अर्पित कर दिया। जब ये कुछ बड़े हुए तो इन्होंने एक अच्छी भूमि में बगीचा लगाया और भगवान् के लिये पुष्प पैदा करने लगे। पुष्पों की सेवा सर्वथा निष्काम सेवा है। भोग में तो प्रसाद पाने की कामना हो भी जाती है, किन्तु पुष्प सेवा तो निष्काम सेवा है। अतः ये भगवान् की चदन पुष्प की सेवा किया करते और निरन्तर भगवान् के नामों का कीर्तन किया करते।

एक दिन रात्रि में इन्हें भगवान् ने स्वप्न दिया विष्णुचित्त! "देखो, तुम मदुरा जाकर वहाँ के धर्मात्मा राजा बलदेव की सभा में उसे मेरे प्रेम का मेरी भक्ति का उपदेश करो। तुम वहाँ मेरी सविशेष उपासना की महिमा बताओ।"

स्वप्न में ही विष्णुचित्त स्वामी ने कहा—"प्रभो! आपकी आज्ञा तो सर्वथा स्वीकार है, किन्तु मुझे शास्त्रों का तो यत्किंचित् भी ज्ञान नहीं। मैं उपदेश क्या करूँगा। फिर भी आपकी आज्ञा ही है तो मैं पंडितों की सभा मे जाऊँगा। आपके चरणारविन्दों को हृदय में स्थापित करके आप जो कहलायँगे, वह कहूँगा, आप जो वाक्य बुलवावेंगे वह बोलूँगा।"

प्रातःकाल होते ही भगवान् की आज्ञा शिरोधार्य करके वे मदुरा गये और वहाँ भगवान् के आदेश से जो उपदेश किया, उससे सभी चमत्कृत हुए। राजा ने उनके उपदेश को ही मानकर उन्हें आचार्य रूप मे वरण किया। भगवत् आज्ञा से जो कार्य करते हैं, जिन्होंने अपना सर्वस्व सर्वेश्वर को समर्पित कर रखा है, जो मोह ममता से रहित है, ऐसे ही पुरुष सर्वविद् कहलाते हैं, वे ही भगवान् को सम्पूर्ण भाव से भजते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने पुरुषोत्तमज्ञ पुरुष की महिमा के सम्बन्ध में भगवान् से जिज्ञासा की, तब भगवान्

कहने लगे—"अर्जुन! मेरे तुम पुरुषोत्तम रूप के सम्बन्ध में तो सुन ही चुके हो। जो मेरे लोक वेद विश्रुत पुरुषोत्तम रूप को जानता है, जो मोह से हीन है वही वास्तव में सर्वविद् है। क्योंकि सर्वरूप मेरा ही है। 'ऐसा सर्वविद् ही मेरा सर्व योग से-सम्पूर्ण भाव से-भजन करता है। उसी का भजन यथार्थ भजन है। मूढ पुरुष तो मुझे साधारण मनुष्य ही समझते हैं। जो मेरे यथार्थ रूप को जान लेते हैं, उन्हीं के हृदय में अनन्यभिचारिणी प्रेमलक्षणा भक्ति उदित होती है। ऐसा अनन्यचिंतक ब्रह्मत्व प्राप्ति का अधिकारी है। जो लोग असंमूढ है सर्वविद् है वे ही मुझे सर्वतो भावेन भजते हैं। यही पुरुषोत्तम योग का सार है।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! यह बद्ध जीव कृतार्थ कब होता है?"

भगवान् ने कहा—"अब तक मैंने जीव के कृतार्थ होने के ही तो सब उपाय बताये हैं। देखो, तुम अधिकारी हो, क्षीण पाप हो अनघ हो, निष्पाप हो। अतः भैया! मैंने तुम्हें इसीलिये यह पुरुषोत्तम योग सुना दिया, यह ज्ञान ऐसा वैसा साधारण ज्ञान नहीं है, यह परम गुह्य-गुह्यतम ज्ञान है। इस शास्त्र के श्रवण के सभी अधिकारी नहीं हैं, तुम्हें निष्पाप सच्चा अधिकारी समझकर ही मैंने यह गुह्य शास्त्र सुनाया है।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! इस गुह्यतम-ज्ञान के जानने से क्या होता है?"

भगवान् ने कहा—"इसके जानने मे मनुष्य वास्तविक बुद्धिमान् बन जाता है, इसके जाने बिना जो बुद्धिमान होने का अभिमान करते हैं, वे तो अभिमानी ही हैं। इसे जानकर ही वास्तविक ज्ञानी होता है, जिसने मुझे वास्तविकता से जान लिया। उसके लिये फिर कोई कर्त्तव्य अवशेष नहीं रहता। वह कृतकृत्य हो

जाता है। जीवन का जो यथार्थ फल है वह उसे मिल जाता है।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! लोक में दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति दो बहुत प्रसिद्ध हैं। बहुत से पुरुष दैवी सम्पत्ति के होते हैं। वे जन्मजात दैवी सम्पत्ति सम्पन्न होते हैं। बहुत से पैदा होते ही आसुरी सम्पत्ति वाले कहलाते हैं। अतः मुझे दैवी और आसुरी सम्पत्ति के सम्बन्ध में विस्तार से समझा दीजिये।"

भगवान् ने कहा—"अर्जुन! यह दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति सम्बन्धी विषय भी बड़ा गूढ़ है। विस्तार के साथ तो इसे सुनाना कठिन है, फिर भी मैं इस विषय को संक्षेप में तुम्हें सुनाऊँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब भगवान् जैसे दैवी और आसुरी सम्पत्ति के सम्बन्ध में अर्जुन को बतावेंगे, उस कथा प्रसंग को मैं आगे अगले दैवासुर सम्पद् विभाग योग नामक अध्याय में सुनाऊँगा। आशा है आप इस प्रसंग को सावधानी के साथ श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

गुह्य ज्ञान यह कह्यो पार्थ! अति सुन्दर तोतें।
उभय जगत सम्पति जानि ले आगे मोतें॥
अरजुन! तू निष्पाप ज्ञान यह गोपनीय अति।
तेरे प्रति ही कह्यो भक्त तू सरल विमल मति॥
जा रहस्यमय ज्ञान कूँ, बुद्धिमान नर जानिकें।
होहिँ कृतारथ विज्ञजन, पुरुषोत्तम मम मानिकें॥

ॐ तत्सत् इस प्रकार श्रीमद्भगवत् गीता उपनिषद् जो ब्रह्मविद्या योगशास्त्र है, जो श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्वाद रूप में है, उसमें "पुरुषोतम योग" नाम का पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१५॥

अथ

षोडशोऽध्यायः

(१६)

दैवी सम्पदा के लक्षण (१)

[१]

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥*

(श्री भग० गी० १६ अ० १ श्लोक)

छप्पय

पुनि बोले भगवान—कहूँ दैवी सम्पति अब ।
दैवी आसुरि जानि मिटैं तेरे संशय सब ॥
भय नहिं कबहूँ करत सत्त्व संशुद्धि कहावै ।
तत्त्व-ज्ञान के हेतु योग इस्थिति करवावै ॥
दान करै इन्द्रिय दमन, रहै यज्ञ में नित निरत ।
जप तप शुभ करमनि करै, रहै सदा ई सरल चित ॥

---

* श्री भगवान् कहने लगे—"अभय, सत्त्व संशुद्धि, ज्ञानयोग में दृढ़ स्थिति, दान, दम, यज्ञ, स्वध्याय, तप और सरलता ॥१॥" (ये दैवी सम्पद के गुण हैं)

पिछले अध्याय के पुरुषोत्तमयोग के अन्त में भगवान् ने कहा—"मैंने तुमसे अत्यन्त गुप्त परम रहस्यमय यह शास्त्रीय योग कहा इसे तत्त्व से जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है।" अब प्रश्न यह है, कि तत्त्व से जानने का अर्थ क्या? जानकारी दो प्रकार की होती है। एक तो उदारता सौम्यता पूर्वक अच्छी जानकारी दूसरी स्वार्थमय बुरी जानकारी। जैसे कोई सुन्दर सांड़ है, वह किसी के खेत में चर रहा है, तो जो उदार हैं, सौम्य हैं, वे पहिले तो सोचेंगे, चरते हुए पानी पीते हुए गो-वंश को हटाना नहीं चाहिये। फिर उसे हटाने का प्रयत्न करें और उन सांड़ पर क्रोध करके फुफकार छोड़े तो वे उसकी फुफकार को देखकर हंस दें। उसकी लाल-लाल आंखें उठे हुए कान, सीधे किये सींग और सुडोल शरीर तथा हिलते हुए कुकुम को देखकर मुग्ध हो जायं। मन में सोचे कैसा अच्छा सांड़ है, बड़ी उच्च जाति का है। किसी उत्तम श्रेणी की श्रेष्ठ गौ का बच्चा है।"

दूसरे वे लोग हैं, जो खेत में चरते सौम्य सांड़ को स्वार्थ के वशीभूत होकर—अपनी तनिक सी हानि के कारण—उसके शरीर को भालों से छेद देते हैं, जब वह क्रुद्ध होता है—तो कहते हैं, कैसा दुष्ट है बड़ा नीच है। उसकी निन्दा करते हैं। उसको गाली देते हैं। यह स्वार्थमय बुरी जानकारी है।

सब लोग अपने स्वभाव से विवश होकर कार्य कर रहे हैं। अच्छे लोग स्वभाव से अच्छा आचरण करते हैं, बुरे लोग अपने बुरे स्वभाव के कारण अच्छी वस्तु में भी दोष देखते हैं। किसी-किसी में जन्मजात सद्गुण होते हैं। किसी में जन्मजात दुर्गुण होते हैं। देवता और असुर एक ही प्रजापति कश्यप के पुत्र हैं किन्तु देवताओं में स्वभाव से सुन्दर गुण हैं, असुरों की जन्म

जात आसुरी प्रकृति हैं। असुरों में भी बहुत से जन्मजात भक्त होते हैं जैसे प्रह्लादजी, किन्तु ये अपवाद स्वरूप हैं फिर भी थोड़ी बहुत असुरता रह ही जाती है। रावण से जब कहा गया— आपको स्त्रियों की क्या कमी है सीता जी को लौटा दो, रामजी से क्षमा माँग लो। रामजी इतने उदार हैं, कि क्षमा माँगने पर-नम्रता दिखाने पर-वे तुम्हें क्षमा कर देंगे। चुप चाप सीताजी को लेकर लौट जायँगे।"

रावण ने कहा—"सूखे बाँस की भाँति भले ही मेरे बीच से दो टुकड़े हो जायँ, मैं नवूँगा नहीं, किसी के सम्मुख मस्तक न झुकाऊँगा।"

पूछा गया—"मस्तक क्यों न झुकाओगे ?"

रावण ने कहा—"यह मेरा स्वभाविक जन्मजात सहज दोष है।"

कहा गया—"सहज दोष को बदल दो, नवना सीख लो।"

रावण ने कहा—"स्वभाव दुरतिक्रम है, स्वभाव प्रायः बदला नहीं जा सकता।"

इसीलिये संसार में अच्छे और बुरे दो स्वभाव हैं, उन्हें दैवी सम्पदा और आसुरी सम्पदा कहते हैं। दैवी सम्पदा वाले पुरुष अपने स्वभावानुसार अच्छे गुणों को धारण करते हैं। आसुरी सम्पदा वाले स्वभाव वश आसुरी कार्य में संलग्न रहते हैं। इसीलिये भगवान् ने दैवी और आसुरी दोनों सम्पदाओं का अर्जुन को परिचय कराया। भगवान् ने यह कभी नहीं कहा—कि कभी भी किसी को आसुरी सम्पदा को ग्रहण न करना चाहिये और आसुरी सम्पदा का परित्याग करके सभी को दैवी सम्पदा को ही ग्रहण करना चाहिये। वह उन्होने इसलिये नहीं कहा—कि सभी अपने-अपने स्वभावों से विवश हैं। विवश होकर ही प्राणी

क्रोध या दया धर्म करते हैं। अतः भगवान् ने केवल दैवी सम्पदा का परिचय करा देना ही उचित समझा दैवी गुणों का बखान करके अन्त में कह दिया—जो लोग दैवी सम्पदा को लेकर जन्म लेते हैं उन पुरुषों के ये लक्षण हैं, और आसुरी सम्पदा के अवगुणों को बताकर अन्त में कह दिया जो लोग आसुरी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए हैं उनके लक्षण ये हैं।

एक तटस्थ व्यक्ति की भाँति दोनों के लक्षण बताकर अन्त में दोनोंका फल बता दिया। दैवी सम्पदा मुक्ति के लिये है और आसुरी सम्पदा बन्धन के लिये है।

यह सुनकर अर्जुन घबड़ा गये। उन्होंने सोचा—जब ये गुण जन्म जात हैं, सहज स्वभाव से होते हैं, तो पता नहीं मैं दैवी सम्पदा वाला हूँ या आसुरी सम्पदा वाला। भगवान् उसकी व्यग्रता को समझ गये और और हँसते हुए बोले-"अरे, अर्जुन! तू शोक मत कर तू तो दैवी सम्पदा प्राप्त पुरुष है। तेरा जन्म तो दैवी सम्पद् को साथ लिये हुए ही हुआ है।"

इसीलिये भगवान् ने दैवी और आसुरी सम्पदाओं का बिना टीका टिप्पणी किये हुए नाम भर गिना दिये हैं, क्योंकि लोक में गुण अवगुण सर्व साधारण में प्रसिद्ध हैं, सभी इनके गुण दोषों से उनके लक्षणों से प्रायः परिचित हैं। अब संक्षेप में पहिले दैवी सम्पदा सम्बन्धी गुणों पर ही विचार करें। दैवी सम्पदा सम्बन्धी गुणों में सर्व प्रथम तो गुण है 'अभय'।

आदमी को भय कब होता है, जब उसे किसी पर विश्वास नहीं होता। शास्त्र के वचनों पर, गुरु के उपदेशों पर, आत्मा पर, परमात्मा पर, अविश्वास होने पर, प्राणी को पग-पग पर भय बना रहता है। सबसे बड़ा तो मृत्यु का भय है, ऐसा न हो इस काम के करने से मैं मर न जाऊँ। फिर अपमान का, अप्रतिष्ठा

का भय। ऐसा करने से लोग मेरा अपमान न कर दें। फिर सैकड़ों प्रकार के भय आ जाते हैं, परिवार के भरण पोषण का भय, रोगों का भय, राज दण्ड का भय, निर्धनता का भय, चोरो का भय, नष्ट होने का भय। शोक के सहस्रों स्थान हैं और इसी प्रकार भय के भी सैकड़ों स्थान हैं, मूर्खों को अज्ञानियों को ये भय प्रतिक्षण भयभीत करते रहते है, किन्तु पंडित का ये भय कुछ भी नही विगाड़ सकते वह सदा निर्भय बना रहता है। सबसे अभय प्राप्त कर लेता है।

इससे सिद्ध हुआ कि शास्त्रों के बचनों पर, गुरु के उपदेशों पर विश्वास करके जो उसी के अनुसार आचरण करता है, उसे किसी का भी भय नही रहता। जैसे शास्त्र ने कहा राम नाम जपने वाले को किसी का भी भय नहीं करना चाहिये। क्योंकि राम नाम सभी दुखों को एकमात्र औषधि है। ऐसा जिसे दृढ़ विश्वास है। उसे चाहे जल में डुबा दो, अग्नि में जला दो, हलाहल विष पिला दो फिर, भी वह अपने निश्चय पर दृढ़ बना रहेगा। वह निर्भय होकर राम नाम का जप करता रहेगा। किसी भी भय के कारण वह नाम जप को नही छोड़ेगा। इसमें प्रह्लाद जी का उदाहरण जगत् प्रसिद्ध है। उसके पिता हिरण्यकाशिपु ने उसे पहाड़ से गिराया, हलाहल विष पिलाया, मदोन्मत्त हाथियों से रुँदवाया, सर्पों से कटवाया, अग्नि में जलाया, किन्तु वे तनिक भी भयभीत नहीं हुए अपने निश्चय पर निर्भर होकर डटे रहे।

जैसे शास्त्रों में कहा है, प्रारब्ध भोग कहीं भी चले जाओ अवश्य हो प्राप्त होंगे। प्रारब्ध को दव भी अन्यथा नहीं कर सकता। इस पर दृढ़ रहने वाला पुरुष निर्भय होकर कहीं भी चला जायगा। उसका विश्वास है; कि समय से पहिले मृत्यु आ

नहीं सकती। मृत्यु आने पर उसे कोई रोक नहीं सकता। जो वस्तु प्राप्तव्य है मेरे प्रारब्ध में है वह मुझे अवश्य प्राप्त हो जायगी। जो मेरे प्रारब्ध में नहीं है, वह प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं हो सकती। ऐसे निश्चय वाला पुरुष किसी भी काल में किसी भी देश में किसी भी व्यक्ति से भयभीत नहीं होता। वह सदा अभय बना रहता है। भगवान् पर, शास्त्र के बचनों पर दृढ़ विश्वास करके बिना सन्देह के निर्भय होकर अपने कर्तव्य कर्मों को करते रहने का नाम अभय है।

यह प्राणी सबसे अधिक भयभीत तो मृत्यु से रहता है, मृत्यु का भय इसे प्रतिक्षण लगा रहता है, मरना कोई नहीं चाहता। ब्रह्मलोक तक पतन का भय है। निर्भय स्थान तो भगवान् के चरणारविन्द ही हैं, जिन भगवत् भक्तों का भगवान् के अरुण वरण चरणारविन्दों के मकरन्द की सुगन्ध पर पूर्ण विश्वास है, वही अभय रह सकता है। अतः अविश्वासी को ही भय होता है, विश्वासी सदा अभय बना रहता है।

दूसरा दैवी सम्पदा का गुण है सत्वसंशुद्धि। सत्त्व कहते हैं—मन, बुद्धि, चित्त, तथा अहंकार वाले अन्तःकरण को। निर्मल अन्तःकरण–विशुद्ध अन्तःकरण–ही सत्वसंशुद्धि है। रागाद्वेष, हर्ष शोक, मिथ्याभिमानादि ये अन्तःकरण के दोष हैं, दोष रहित अन्तःकरण की पहिचान यही है, कि उसमें छल कपट बनावटीपन नहीं रहता। जो बात जैसी है, उसे बिना बढ़ाये घटाये सरलता से जो कह दे समझो यह शुद्ध अन्तःकरण का व्यक्ति है। प्रायः सात्विक प्रकृति के पुरुषों के बालक छल कपट रहित होते हैं। उन्हें जो पूछो सत्य-सत्य बता देते हैं।

उपनिषद् पुराणों में ऐसे सरलचित्त शुद्ध अन्तःकरण के पुरुषों के बहुत दृष्टान्त हैं। प्राचीनकाल में बालक स्वयं गुरुकुलों

में आचार्य के समीप पढ़ने जाया करते थे, उसे 'उपनयन' गुरु के समीप गमन कहते थे, उसमें आज की भाँति तड़क भड़क औपचारिकता नहीं होती थी। छात्र आचार्य के चरणों में जाते थे, श्रद्धा भक्ति पूर्वक प्रणाम करते। गुरुदेव उनसे समिधा मँगाते। हवन कराते गायत्री का उपदेश करते और सदाचार की व्यावहारिक शिक्षा देते। पहिले कक्षा लगाकर, लिखा पढ़ाकर शिक्षा नहीं दी जाती थी, आचार्य उन्हें कोई सेवा बताते छात्र उस सेवा को श्रद्धा पूर्वक करते। स्थान-स्थान पर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ, त्यागी, तपस्वी, वीतराग आचार्य निवास करते। जो दश सहस्र छात्रों की पढ़ाई तथा भोजन की व्यवस्था करते वे आचार्य कुलपति कहाते। शेष आचार्य कहाते।

ऐसे ही एक आचार्य हारिद्रुम गौतम थे। उनके समीप एक छोटा-सा बालक आया। उसने आचार्य के चरणों में प्रणाम करके कहा—"भगवन्! मैं ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए, आपकी सन्निधि में निवास करके सेवा करना चाहता हूँ। आप मुझे अपना अन्तेवासी बनाने का अनुग्रह कीजिये।"

आचार्य ने अत्यन्त ही स्नेह के साथ पूछा—"वत्स मैं तुम्हें अवश्य अपना अन्तेवासी बनाऊँगा तुम्हारा गोत्र क्या है?"

बालक ने कहा—"भगवन्! जब मैं घर से चला था तब मैंने अपनी माता से पूछा था माता जी! मैं ब्रह्मचारी बनकर गुरु गृह में निवास करना चाहता हूँ। मैं ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये गुरुकुल जाना चाहता हूँ वहाँ यदि आचार्य मुझसे मेरा गोत्र पूछेंगे, तो मैं क्या बताऊँगा?"

इस पर मेरी माँ ने कहा था—"वत्स! मैं युवावस्था में परिचारिणी थी, आगत अतिथि अभ्यागतों की सेवा में सदा संलग्न रहती। उसी समय तेरा जन्म हुआ था। मैं तेरे पिता का

गोत्र नहीं जानती केवल इतना ही जानती हूँ, तेरा नाम सत्य काम है, और मेरा नाम जबाला है।" अब आप जैसा उचित समझें।"

निष्कपट भाव से सरलता पूर्वक माता की कही बात को ज्यों का त्यों कहने पर आचार्य परम प्रसन्न हुए, उन्होंने कहा—"वत्स ! तुम निश्चय ही ब्राह्मण हो, ब्राह्मण के अतिरिक्त दूसरा कोई भी इस प्रकार सत्य बात को सरलता से नहीं कह सकता। तुम सत्त्वसंशुद्धि—शुद्ध अंतःकरण वाले बालक हो। मैं तुम्हें अवश्य अपना शिष्य बनाऊँगा। तुम समिधा ले आओ।"

कुछ लोग अपने दोषों को छिपाने को असत्य बात कह देते हैं, कुछ वाक्छल भावछल करते हैं। होंगे निर्धन अपनी मान प्रतिष्ठा के लिये अपने को धनी बतावेंगे। थोड़े पढ़े लिखे अपने को विद्वान् सिद्ध करेंगे। किन्तु जो शुद्ध अन्तःकरण वाले हैं वे बात को छिपाना जानते ही नहीं।

जब शृंगी ऋषि के पिता महर्षि विभांडक ने अपने पुत्र से उसकी उदासी का कारण जानना चाहा तो बालक ने जो कुछ हुआ था सब ज्यों का त्यों बता दिया। वह छिपाना असत्य बोलना जानता ही नहीं था। उसके अन्तःकरण में छल कपट, राग द्वेष का लेश भी नहीं था। ऐसा अंतःकरण जिसका हो समझना चाहिये कि यह दैवीसम्पदा के गुणों से युक्त व्यक्ति है। ऐसे अंतःकरण वाले व्यक्ति परवञ्चन, माया और मिथ्या से सर्वथा पृथक् रहते हैं। किन्हीं भी असद् उपायों से दूसरों को अपने वश में करके उन्हें ठग लेने को अपना स्वार्थ सिद्ध करने को परवञ्चना कहते हैं। जैसे जो स्वयं ज्ञानी तो है नहीं, किन्तु मिथ्या बकवाद करके भोले भाले लोगों को फुसलाकर जो उन्हें शिष्य

बना लेते हैं और उनके धन का अपहरण करके अपना स्वार्थ सिद्ध कर लेते हैं वे परवंचक कहलाते हैं।

माया उसे कहते हैं, कि हृदय में तो अन्य भाव है, किन्तु बाहर से दूसरा ही भाव प्रदर्शित करते हैं। जैसे हृदय में तो उससे धन ठगने की भावना है, किन्तु ऊपर से अपने को त्यागी विरागी, वीतरागी सिद्ध करते हैं, ऐसे पुरुष मायावी कहलाते हैं।

मिथ्या–अयथार्थ भाषण को कहते हैं। देखा तो कुछ और है, प्रकट कुछ और ही कर रहे हैं इसी का नाम असत्य भी है। सत्त्वसंशुद्धि–विशुद्ध अन्तःकरण–में ये सब बातें नहीं होतीं।

दैवी सम्पदा का तीसरा गुण है "ज्ञानयोग व्यवस्थिति।" ज्ञान कहते हैं, शास्त्रों के द्वारा तत्त्व वस्तु को यथार्थ रूप से समझ लेने को। योग उसका नाम है कि शास्त्रों द्वारा या गुरु मुख से सुने हुए ज्ञान को चित्त की एकाग्रता द्वारा उसे अपने अनुभव में ले आना। केवल शास्त्रीय ज्ञान हो जाय, किन्तु उसे अपने अनुभव में न लावे तो ऐसे ज्ञान से लाभ ही क्या? ज्ञान को अपने अनुभव में लाकर भी यदि उनमें सर्वथा अवास्थिति न हुई। उसमें पूर्ण निष्ठा न हुई, तो वह ज्ञान भी व्यर्थ और वह योग या अनुभव भी व्यर्थ। अतः शास्त्रों द्वारा ज्ञान भी प्राप्त किया हो, उसका जीवन में अनुभव भी किया हो और में अपनी पूर्ण निष्ठा भी हो उसी का नाम "ज्ञान योग व्यवस्थिति" है। यह दैवीसम्पदा का तीसरा गुण है।

दैवी सम्पदा का चौथा गुण है दान। जिन वस्तुओं में अपनापन हो, उन वस्तुओं से अपनापन मेंट कर उसे किसी सुपात्र को श्रद्धा पूर्वक दे देने का नाम दान है। जिस वस्तु को एक बार किसी को दान कर दिया, फिर गृहीता उसका जैसा चाहे उपयोग करे, उसमें अपना स्वत्व न रखे। यही दान का यथार्थ अर्थ है।

एक त्यागी महात्मा को किसी ने ले जाकर एक लोकी समर्पित की। लोकी का साग वे महात्मा कहाँ बनाते। उन्होंने समीप में बैठे एक दूसरे ब्राह्मण बालक को उसे दे दिया।

इस पर लोकी दाता ने कहा—"महाराज! मै तो इसे आपके लिये लाया था, आप इसे खाले तो मुझे प्रसन्नता होती।"

महात्मा ने उसे लोकी को लौटाते हुए कहा—"तुमने पूर्णरूप से इस लोकी को मुझे नहीं दिया था, इसमें तुमने अपना कुछ स्वत्व रख लिया था। अपना स्वत्व रख कर दी हुई वस्तु दान नहीं कहाती। जिसमें अपना तनिक भी स्वत्व न रहे वही यथार्थ दान है। जब तुमने जिस वस्तु को हमें दे दिया उस पर से अपना स्वत्व हटा लिया, तो वह वस्तु हमारी हो गयी। हमारी वस्तु है, अब हम उसका जैसे चाहें उपभोग करें। जिसे चाहें दे दें। तुम्हें दुःख मानने का क्या अधिकार है।"

अतः निस्वार्थ भाव से, दान करना चाहिये इस भावना से; किसी प्रत्युपकार की भावना न रखकर सुपात्र को दी हुई वस्तु को दान कहते हैं।

दैवी सम्पदा का पाँचवाँ सद्गुण है दम। दम वाह्य इन्द्रियों के दमन को कहते हैं। ये इन्द्रियाँ बाहर की वस्तुओं के लिये दौड़ती रहती हैं, क्योंकि ब्रह्माजी ने इन्द्रियों के गोलक बाहर की ओर बनाये हैं, अतः इन्द्रियाँ बाहर की ही ओर विशेष रूप से देखा करती हैं। उन इन्द्रियों को शास्त्र विरुद्ध आचरणों से बलपूर्वक रोकना ही दम है जैसे कोई सद्गृहस्थ है, उसे ऋतुकाल में ही गमन करना चाहिये ऋतुकाल के अतिरिक्त अन्यकाल में गमन न करे। अपनी ही भार्या में गमन करे, अन्य में नहीं। ऋतुकाल को व्यर्थ न जाने दे। इस प्रकार इन्द्रियों को मर्यादा के भीतर रखकर नियत कर्मों को करना दम कहलाता है।

दैवी सम्पदा का छटा गुण है यज्ञ। यज्ञ अनेक प्रकार के होते हैं। कुछ श्रौत यज्ञ होते हैं जैसे नित्य का अग्निहोत्र, अमावास्या के दिन पितरों के निमित्त किया जाने वाला दर्श यज्ञ, पूर्णिमा को देवताओं के निमित्त किया जाने वाला यज्ञ पौर्णमास यज्ञ, कुछ स्मार्त यज्ञ होते है–जैसे देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्य यज्ञ और ब्रह्म यज्ञ। इनके अतिरिक्त पशुयज्ञ, सोमयज्ञ, अश्वमेघ, गोमेघ, नरमेघ, राजसूय, सर्वजित् आदि अनेक प्रकार के यज्ञ हैं। दैवीसम्पदा में तो नित्य नैमित्तिक यज्ञों का ही विशेष रूप से ग्रहण करना चाहिये, वैसे सभी सात्विक यज्ञों को सत्गुण प्रधान पुरुष ही करेंगे।

दैवीसम्पदा का सातवाँ गुण है स्वाध्याय। स्वाध्याय वेदाध्ययन और मंत्र जप को कहते हैं। ब्रह्मचारियों के लिये वेदाध्ययन ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। गायत्री आदि मन्त्रों का जप भी स्वाध्याय में ही सम्मिलित है। महाभारत में एक कथा आती है, एक महात्मा निरंतर गायत्री का ही जप करते रहते थे। उनके जप यज्ञ से गायत्री देवी सन्तुष्ट हुई और प्रत्यक्ष होकर उन्हें दर्शन देकर बोलीं—"तुम मुझसे जो चाहो सो वर माँग लो।"

महात्मा ने कहा—"माँ! यदि मुझ पर तुम प्रसन्न हो, तो ऐसा आशीर्वाद दो, कि आपके जप में मेरी अधिकाधिक निष्ठा हो, और मैं कुछ भी नहीं चाहता।"

मंत्र जप करने वाला संसारी भोगों की इच्छा न करें, और न इष्टदेव से संसारी भोगों की याचना ही करे। मंत्र का निरन्तर जप होता रहे, इससे बढ़कर और इस संसार में दूसरी प्रसन्नता की वस्तु है ही क्या?"

दैवी सम्पदा का आठवाँ गुण है तप। इन्द्रियों को तपाने का नाम तप है। तप तीन प्रकार का बताया है कायिक, वाचिक तथा

मानसिक। इसका वर्णन तो आगे आवेगा। यहाँ तपस्या का अर्थ तो शरीर को तपाने से ही है। तपस्या अनेक प्रकार की होती है। सबसे प्रबल तो रसना और उपस्थेन्द्रिय ही हैं। इनके वेग को रोकना ही महान् तप है, अतः ब्रह्मचर्य पालन को तथा अनशन को महान् तप माना गया है। तपस्या तो अपनी शक्ति सामर्थ्य के अनुसार सभी को करनी चाहिये किन्तु वानप्रस्थियों का यह विशेष धर्म है। कृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रत, एकादशी आदि पुण्य तिथियों का व्रत यह भी तप ही है। वैसे एक ही समय भोजन करना, दूसरे समय के लिये कुछ भी बचाकर न रखना न दूसरे समय की चिंता करना यह भी तप है। सूर्य अथवा चन्द्रमा की किरण पीकर ही रहना, बिना अग्नि पर पकाये कच्चे अन्न को पत्थर पर कूटकर खाना, केवल पेड़ के गिरे पत्तों को ही खाकर उन्हीं से जीवन निर्वाह करना, पत्थर पर न कूट करके केवल दाँतों से ही ऊखल का काम लेना, अर्थात् केवल दाँतों से ही कच्चा अन्न चबा लेना, कण्ठ तक पानी में डूबकर जप आदि करते रहना, बिना शैया के केवल भूमि पर ही बिना बिछौना के ही पड़कर समय बिता देना, गद्दा, तकिया, चटाई कुछ भी न रखना, एक क्षण को भी व्यर्थ न गँवाना, सभी समय शुभ कर्मों में संलग्न बने रहना, केवल जल पीकर ही जीवन व्यतीत करना, वायुपान करके ही निर्वाह करना, चाहे वर्षा हो, गर्मी हो अथवा जाड़ा हो सभी समयों में खुले मैदान में रहना सोना, अथवा वेदी पर ही बैठे बैठे सो लेना, निरन्तर पर्वतों के ऊपर ही रहना, वहीं शयन करना, सदा गीले कपड़े पहिने रहना, निरन्तर मंत्र का जप ही करते रहना, पंचाग्नि तापना अर्थात् अपने चारों ओर अग्नि जलाकर और ऊपर से सूर्य का ताप सहन करके धूनी तापना, मन और इन्द्रियों को वश में करने के विविध उपाय

करते रहना, निरन्तर परमात्मा तत्त्व के विचार में संलग्न बने रहना। इस प्रकार शरीर को तपाने वाले अन्तःकरण को शुद्ध बनाने वाले अनेकों प्रकार के तप हैं।

दैवी सम्पदा का नववाँ गुण है आर्जव, आर्जव कहते हैं कुटिलता न करने को अर्थात् सरलता सीधापन। जो अधिकारी श्रद्धालु भक्तों से दुराव करता है, छिपाता है, वह कुटिल है जो भी सत्य बात हो, उसे बिना नमक मिरच लगाये सरलता के साथ प्रकट कर देने का ही नाम आर्जव है। ये तथा आगे कहे जाने वाले अन्य गुण भाग्यशालियों को पूर्वजन्म के संस्कारानुसार जन्म जात होते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब भगवान् ने अर्जुन के बिना ही पूछे, करुणा करके अपनी भक्तवत्सलता का परिचय देते हुए दैवी सम्पदा तथा आसुरी सम्पदा का वर्णन करना आरंभ कर दिया।"

भगवान् ने कहा—"अर्जुन! अब मैं तुम्हें दैवी सम्पद् तथा आसुरी सम्पद् का विवरण सुनाऊँगा।"

अर्जुन ने कहा—"सुनाइये महाराज!"

भगवान् ने कहा—"पहिले दैवी सम्पदा को ही श्रवण करो।"

अर्जुन ने पूछा—दैवी सम्पद् के प्रकार की है?"

भगवान् ने कहा—"दैवी सम्पदा प्राप्त पुरुषों के लक्षण तो अनन्त हैं। उनमें छब्बीस मुख्य हैं। उनके नाम तुम्हें सुनाता हूँ। पहिला लक्षण तो है अभय। जो किसी से भयभीत न हो सदा निर्भय बना रहे समझो यह दैवी सम्पदा वाला व्यक्ति है।"

दूसरा गुण है—"सत्त्व संशुद्धि! अर्थात् अन्तःकरण का स्वच्छ, विमल, निर्मल होना।"

तीसरा गुण है—"ज्ञान के अनुभव की व्यवस्थिति करना अर्थात् ज्ञान निष्ठा।"

चौथा गुण है—"दान देने में प्रवृत्ति होना दातृत्व शक्ति की अधिकता।"

पाँचवां गुण है—"इन्द्रियों का दमन करना।"

छटा गुण है—"यज्ञ यागों में मन लगाये रहना।"

सातवाँ गुण है—"सदा स्वाध्याय में ही समय व्यतीत करना।"

आठवां गुण है—"तपस्या में संलग्न रहना। तप करने में हर्ष होना।"

नववां गुण है—"आर्जवता, सरलता का होना।"

सूतजी कहते हैं—"दैवी सम्पद् के और गुणों का वर्णन मैं आगे करूंगा।"

छप्पय

अभय होत, विश्वास करै जो शास्त्र वचनमहँ।
अन्तःकरन विशुद्ध पूर्वकृत करम उदयतहँ॥
ज्ञाननिष्ठ वैराग्य विवेकहु तैं ह्वै जावै।
दान, यज्ञ, दम शक्ति भाग्य तैं ही नर पावै॥
वेदाध्ययनहु भक्त जप, विविध भाँति के तप कहे।
आर्जव करननि सरलता, दैवी सम्पद् गुन लहे॥

दैवी सम्पदा के लक्षण (२)

[२]

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥*
(श्री० भग० गी० १६ अ० २ श्लोक)

छप्पय

मन बानी तें नहीं करै हिंसा प्रानिनि की।
बोलै नित ई सत्य टेव तजि क्रोध करन की ॥
भीतर बाहर त्याग शान्ति नित चुगुली नाहीं।
सब प्रानिनि पै दया न लोलुपता मन माँहीं ॥
अति कोमलता चित्त में, अनुचित काजनि लाज नित।
चंचलता कूँ देइ तजि, व्यरथ बात नहिं देइ चित ॥

दैवी सम्पदा के श्रीमद्भगवत् गीता में २६ लक्षण बताये हैं, इनमें से ६ सद्गुणों का वर्णन तो प्रथम श्लोक में कर दिया और ग्यारह सद्गुणों का वर्णन द्वितीय श्लोक में इस प्रकार नौ और ग्यारह बीस लक्षणों का वर्णन हुआ। जिनमें से ६ के सम्बन्ध में

---

* अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, अपिशुनता, सब भूतो पर दया, अलोलुपता, कोमलता, लज्जा और अचपलता—॥२॥ (ये दैवी सम्पद् के गुण हैं)

तो पहिले कह चुके अब दशवें से बीसवें तक के सम्बन्ध में बहुत ही संक्षेप में यहाँ विचार करेंगे।

दैवी सम्पदा का दशवाँ लक्षण है—"अहिंसा। जो प्राणी जीना चाहता है, उसके जीने के साधनों को दूभर कर देने का नाम हिंसा है। जैसे मछलियाँ जल में रहकर बिना किसी को कष्ट दिये जल के ही पदार्थों से अपना जीवन निर्वाह करती हैं. पशु पक्षी बन में रहकर वृक्षों पर वास करके बिना किसी को कष्ट दिये हुए अपना जीवन बिताते हैं, उनके जीवन को ले लेना, उनकी वृत्ति का छेदन कर देना। यह हिंसा है। हिंसा प्राणी तीन कारणों से करता है, वैर का बदला लेने के निमित्त, जीवन निर्वाह या जिह्वा स्वाद के निमित्त, अथवा मनोरंजन आदि अन्य स्वार्थों की सिद्धि के निमित्त। हिंसा केवल शस्त्र से या अन्य किसी उपाय से मार डालने को ही नहीं कहते हैं। हिंसा मन से भी होती है बचनों से भी होती है और क्रिया द्वारा भी होती है। मन से किसी का अनिष्ट सोचना यह मानसिक हिंसा है। बचनों द्वारा किसी को बुरा कहना, उसे वाक् वाणों से वेध देना यह वाचिक हिंसा है। कर्म द्वारा किसी को पीड़ा पहुँचाना, उसके प्राण ले लेना कर्मणा हिंसा है। जो मानसिक, वाचिक तथा कर्म द्वारा तीनों प्रकार की हिंसाओं से बचा रहता है, किसी भी प्राणी की वृत्ति के छेदन में मनसा, वाचा कर्मणा कारण नहीं बनता है, जो अहिंसक वृत्ति से अन्न, कंद, मूल फलों द्वारा अपने जीवन का निर्वाह करता है, वही अहिंसक है। अहिंसा की सूक्ष्मता में जाओ तब तो स्वास लेना भी हिंसा है। प्रत्येक जीव का जीवन किसी जीव के ही द्वारा चलता है, यों तो कोई भी प्राणी कभी भी बिना हिंसा किये बच नहीं सकता। किन्तु यहाँ साधारणतया इतना ही अर्थ है कि किसी भी सचर प्राणी को मन से, वचन से तथा

कर्म से पीड़ा न पहुँचावें । जो इस प्रकार सभी प्राणियों के प्रति प्रेम प्रदर्शित करके उन्हें अभय प्रदान कर देते हैं, ऐसे अहिंसा वादियों के समीप में रहने वाले जीव जन्तु भी अपने स्वाभाविक वैर भाव को त्यागकर परस्पर में प्रेम करने लगते है। प्राचीन-काल में अहिंसक ऋषियों के आश्रमों में सिंह और बकरी एक घाट पर पानी पीते थे। मोर और सर्प साथ-साथ खेलते थे। जीवन में यदि अहिंसा आ जाय, तो प्राणी सर्व ओर से निर्भय बन जाय। हमें भय दूसरे प्राणियों से तभी होता है, जब हमारे मन में उनके प्रति छिपे हुए हिंसा के भाव हों। जिसने सब में अपनी ही आत्मा का साक्षात्कार कर लिया है, वह क्यों किसी से द्वेष करेगा, क्यों किसी की हिंसा करेगा। अतः दैवी सम्पदा वाले हिंसा से रहित अहिंसक होते है।"

दैवी सम्पदा का ग्यारवाँ लक्षण है—"सत्य। सर्वत्र समदर्शन करना ही सत्य है। समदर्शन उसे कहते हैं सभी में एक ही आत्मा को देखना हम असत्य भाषण तभी करते हैं, जब दूसरों को अपने से भिन्न अनुभव करते हैं। मनुष्य लौकिक स्वार्थ सिद्धि के ही निमित्त असत्य भाषण करता है। हम जितना धन चाहते हैं, उतना धन सत्य बोलने से नहीं मिल रहा है, हम जितनी प्रतिष्ठा चाहते हैं, वह सत्य बोलने से संभव नहीं, हम अपने परिवार को जितनासुखी रखना चाहते हैं, उतना सत्य बोलकर नही रख सकते, तब हम असत्य का आश्रय लेते हैं यही पाप है। यही आसुरी सम्पदा है। सत्य में बड़ी सामर्थ्य है, जो सत्य को नहीं छोड़ते, उनकी रक्षा सदा सत्य ही करता है। शास्त्र पुराणों में सत्य पालन करने वालों की अनेकों आख्यायिकायें हैं। महाराज हरिश्चन्द्र ने सत्य की रक्षा के निमित्त कितने-कितने कष्ट सहे। वे अपने राज्य से भ्रष्ट हुए, पुत्र और पत्नी से पृथक् हुए। उनके

सामने उनकी पत्नी तथा प्राणों से प्यारा अबोध परम सुकुमार राज कुमार बेचा गया। स्वयं आप भी चांडाल श्वपच के द्वारा क्रय किये गये। वहाँ कितनी-कितनी विपत्तियाँ आईं। पुत्र की मृत्यु हुई। महारानी उसी घाट पर पुत्र का दाह करने आईं जहाँ महाराज भंगी के चाकर बनकर मृतकों से कर लेते थे। रानी से भी कर माँगा। सोचिये ये कितनी भारी विपत्तियाँ हैं, किन्तु महाराज हरिश्चन्द्र ने सत्य की रक्षा के लिये इन सभी दुःखों को अव्यग्र भाव से सहन किया। इस लोक में सत्य पालन से भले ही कष्ट हुआ हो, किन्तु परलोक में तो उन्हें अनन्त सुख मिला। वे परमशान्ति के अधिकारी बने। सत्यव्रती को जो दुःख होते हैं, वे हम साधारण आदमियों को दुःख प्रतीत होते हैं। सत्य पालन की जो एक दृढ़ता है, उस दृढ़ता के कारण उन्हें आन्तरिक बड़ी शान्ति प्राप्त होती है। सत्य स्वरूप भगवान् का उन्हें सदा स्मरण बना रहता है। भगवान् को भूल जाना ही सबसे बड़ी विपत्ति है और सत्य स्वरूप भगवान् का सदा स्मरण बना रहे, यही सबसे बड़ी सम्पत्ति है, यही परमशांति है। अतः दैवी सम्पद् सम्पन्न पुरुष सदा सर्वदा सत्य का अनुसरण करते हैं, वे सत्य का ही सतत आश्रय ग्रहण करते हैं।

दैवी सम्पद् का बारहवाँ सद्गुण है—अक्रोध। क्रोध ही पाप का मूल है। क्रोध काम का छोटा भाई है, कहीं-कहीं इसे काम का पुत्र भी बताया है और कहीं इसे अधर्म का प्रपौत्र दम्भ का पौत्र और लोभ का पुत्र बताया है। कल्प भेद से सभी सत्य हैं। भावार्थ इतना ही है, कि क्रोध सदा काम के पश्चात् होता है, जिस वस्तु की हम कामना करते हैं, वह कामना पूरी नहीं होती, तो क्रोध आता है और क्रोध ही पाप का मूल है। क्रोध को आश्रयदाहक कहते हैं। जैसे अग्नि जिस स्थान में लगेगी, जहाँ

से पैदा होगी, पहिले उसे जलाकर तब आगे बढ़ेगी। इसी प्रकार क्रोध जिस स्थान में पैदा होगा उसे जलाकर तब आगे बढेगा। संसार में जितने भी अनर्थ हुए हैं। सब क्रोध के ही कारण हुए हैं। जैसे वन में दो बाँसों की रगड़ से अग्नि उत्पन्न होती है, सब से पहिले तो उसी वंश को निर्मूल करती है, जहाँ लगती है फिर फैलता-फैलती सम्पूर्ण वन में फैल जाती है और वन के सभी वृक्षों को जला डालती है। कौरव और पांडवों के वंश में यह क्रोध की अग्नि लगी। फैलते फैलते वह पृथ्वी भर के समस्त क्षत्रियों में फैल गयी। कौरवों की ओर ग्यारह अक्षौहिणी सेना और पांडवों की ओर सात अक्षौहिणी सेना एकत्रित हो गयी। दोनों वंश तो नष्ट हो ही गये। पृथ्वी भर के सभी राजा नष्ट हो गये। इस क्रोध रूपी रणाग्नि में जलकर भस्म हो गये। १८ अक्षौहिणी सेना में दोनों ओर के कुल नौ पुरुष बचे। ६ पांडवों की ओर से और ३ कौरवों की ओर से। शेष सभी स्वाहा हो गये। ऐसा कहते है, उस समय पृथ्वी भर के क्षत्रियों में स्त्रियों बहुत वृद्धों और छोटे-छोटे बालकों को छोडकर एक भी युवा पुरुष नहीं बचा था। यह सब क्रोध का परिणाम था। ऐसे क्रोध से जहाँ तक हो बचे रहने का ही नाम अक्रोध है। अक्रोध से सभी अनर्थों से बचा जा सकता है। अतः दैवी सम्पत् का क्रोध न करना यह मुख्य लक्षण है। किसी को कभी भूल से क्रोध वश कटु वचन कह दिया गाली आदि कुवाच्य कह दिये या किसी को पीट दिया तो तुरन्त उसी क्षण अपनी भूल समझ कर जो क्षमा याचना कर लेते हैं, उसी समय उसे शान्त कर देते हैं, क्रोध की अग्नि को आगे फैलने नहीं देते यही अक्रोध का मुख्य लक्षण है, क्योंकि क्रोध से क्रोध और बढ़ता है।

दैवी सम्पद् का तेरहवाँ लक्षण है—त्याग। यहाँ त्याग मे

दान का तात्पर्य नहीं, दान तो पहिले आ चुका है। यहाँ त्याग का अर्थ है कर्म फलों का त्याग। अर्थात् कर्म करते हुए भी उनका फल न चाहना अपने में जो कर्तापने का अभिमान आ जाय उस अहं वृत्ति को त्यागना। त्याग सन्यास का भी नाम है वे बड़े त्यागी है। उन्होंने सर्वस्व त्याग दिया है, किन्तु गीता शास्त्र ऐसे त्याग को यथार्थ त्याग नहीं मानता। वह कर्मों के त्याग के विरुद्ध है। विरुद्ध क्या है वह सिद्धान्त की बात बताता है कि एक क्षण भी ऐसा नही है, कि आदमी बिना कुछ किये रह सके। कर्म करना प्राणियों का सहज धर्म है स्वाभाविक प्रवृत्ति है। अतः भगवान् का कहना है, जो शुभ कर्म हो, जो अन्तःकरण को विशुद्ध बनाने में सहायक हों, जो मनुष्यों को पावन बनाते हों, ऐसे पवित्र कर्मों को निष्काम भाव से–बिना फल की इच्छा से–करता रहे। *कर्मों का नहीं कर्मों के फलों के त्यागने* का ही नाम यथार्थ में त्याग है। जो कर्म करे, उसे कृष्णार्पण कर दे। जो अपने लिये कुछ भी न करता हो। सब कुछ ब्रह्मार्पण बुद्धि से करता हो, वही त्याग के यथार्थ रहस्य को जानने वाला है।

दैवी सम्पदा का चौदहवाँ सद्गुण है–शान्ति। प्राणी अशान्त कब होता है, जब उसे संसारी चिन्तायें आकर घेर लेती हैं। तब उस अन्तःकरण की प्रसन्नता चली जाती है। मुख की मुस्कान समाप्त हो जाती है, हृदय में एक प्रकार की विचित्र सी हलचल होने लगती है। चित्त में एक प्रकार का विक्षेप उत्पन्न हो जाता है। यह प्राणी सदा दुखी चिन्तित होना नहीं चाहता वह शान्ति का इच्छुक बना रहता है। जब प्रयत्न करने पर भी संसारी विषयों की चिन्तायें त्रस्त करने लगती हैं तब प्राणी विवश होकर मादक द्रव्यों का सेवन करने लगता है, उससे आन्तरिक शान्ति तो नहीं होती, किन्तु विचारक शक्ति नष्ट हो

जाती है, वुद्धि पर परदा पड़ जाता है। स्मृति का ह्रास हो जाता है। यह स्वाभाविक शान्ति नहीं है, यह तो वैसे ही है जैसे प्रज्वलित अग्नि के ऊपर राख आ जाती है। राख से ढकी अग्नि दूर से वुझी हुई सी ही दिखायी देती है, किन्तु राख के हटा देने पर वह पुनः ज्यों की त्यों प्रज्वलित हो उठती है। मादक द्रव्यों में मद के कारण स्मृति ढक जाती है, जहाँ मद कम हुआ पुनः चिन्तायें घेर लेती हैं, पुनः चित्त अशान्त हो जाता है।

संसारी भोगों को जो महत्त्व न दे, जो अहंता ममता से दूर रहे उसी का जीवन शान्तिमय बीतता है दूसरों के वैभव को देखकर, अपने समीप भोग सामग्रियों का अभाव देखकर प्रयत्न करने पर, भी सफलता न होने पर अपने समीप के भोग पदार्थों के नष्ट होने पर ही अशान्ति होती है। जो इन बातों से रहित हैं उन्हीं का जीवन शान्तिमय है, सुखमय है।

एक शिष्य ने किसी त्यागी विरागी ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप जाकर पूछा—"भगवन्! मुझे कोई ऐसा सरल सुगम उपाय बता दें, जिससे मुझे शाश्वती शान्ति की प्राप्ति हो सके।"

महात्मा ने पूछा—"शाश्वती शांति क्यों चाहते हो?"

शिष्य ने कहा—"गुरुदेव! शाश्वती शान्ति के बिना सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती।"

महात्मा ने कहा—"तब तुम किसी ऐसे आदमी का माँगकर अँगरखा पहिन लो जो अपने को सबसे अधिक सुखी मानता हो।"

शिष्य ने कहा—"यह कौन-सी बड़ी बात है। ये निर्धन लोग ही अपने को दुखी मानते हैं। धनिकों के समीप तो सभी सुख के साधन समुपस्थित हैं, इतना बड़ा संसार है, इसमें इतने बड़े-बड़े धनिक हैं, उनमें कोई भी तो अपने को सबसे अधिक सुखी मानता

ही होगा, उसी से अंगरखा माँगकर पहिन लूँगा, मैं शाश्वती शान्ति को प्राप्त कर लूंगा।" यह सोचकर वह धनिकों के समीप जाने लगा। जिसके पास भी जाता, वही कह देता—"अरे, हम सबसे सुखी कहाँ हमें तो बहुत-सी चिन्ताये लगी रहती हैं। हमसे सुखी तो अमुक है।" तब वह उसके समीप जाता, वह किसी दूसरे का नाम बता देता। इस प्रकार वह वर्षों इधर से उधर भटकता रहा। धनिको के समीप, विद्वानों के समीप, राजाओं के समीप, वैभवशालियों के समीप, सत्ताधारियों के समीप सभी के समीप गया, किन्तु सबसे अधिक सुखी अपने को किसी ने भी नहीं बताया। तब तो वह निराश हो गया। एक बड़े भारी विद्वान् के समीप गया। और जाकर उसने उनसे पूछा—"क्या संसार मे सबसे सुखी कोई है ही नही ? यदि आपकी दृष्टि में कोई सबसे सुखी व्यक्ति हो, तो मुझे बताइये ?

विद्वान ने कहा—"जो संसारी भोगो में लिप्त है, वासना तृष्णा से अविभूत हैं, ऐसे विषयों के चाहने वालो मे पूर्ण सुखी तुम्हें कहाँ मिलेंगे। देखो, अमुक वृक्ष के नीचे एक नगे महात्मा बैठे हैं, उनसे जाकर पूछो।"

विद्वान् की बात मानकर वह साधक उनके बताये हुए वृक्ष के समीप पहुँचा वहाँ एक नंगे महात्मा बिना कुछ बिछाये भूमि पर बैठे थे। एक जीर्ण शीर्ण मलिन वस्त्र से उन्होंने अपना मुख ढंक रखा था।

साधक ने जाकर पूछा—"महात्मा जी ! क्या आप संसार में सबसे अधिक सुखी हैं ?"

महात्मा ने गरजकर कहा—"हाँ, मैं संसार में सबसे अधिक सुखी हूँ।"

"साधक ने कहा—"तो कृपा करके आप अपना अँगरखा मुझे दे दीजिये।"

महात्मा ने कहा—"अँगरखा लेकर क्या करोगे ? अँगरखा क्यों पहिनना चाहते हो ?"

साधक ने कहा—"मेरे गुरु ने कहा है, जो सबसे अधिक सुखी हो, उसका अँगरखा पहिन लेने पर शाश्वती शांति मिल जायगी। शाश्वती शान्ति के ही निमित्त मैं अँगरखा पहिनना चाहता हूँ।"

महात्मा ने कहा—"भैया, तुम देखते नहीं, हो, मैं तो स्वयं नंगा हूँ, मेरे पास तुम्हें देने को अपना कहलाने वाला अँगरखा है ही कहाँ ?"

साधक समझ गया, अँगरखा माने विषय भोग। जिसने विषय भोगों का अँगरखा पहिन रखा है, उसे तो विषयों के भोग से और अधिकाधिक तृष्णा बढ़ेगी। जितनी ही विषयों की उपलब्धि होती है, उतना ही अधिक लोभ, और बढ़ता जाता है, जिसकी जितनी ही अधिक बढ़ी हुई तृष्णा है, वह उतना ही अधिक दुःखी है, दरिद्री है, और जिसने तृष्णा का परित्याग कर दिया है, विषय भोगों से उपरत हो गया है, वह उतना ही अधिक सुखी है।"

जब साधक ने यह समझ लिया, तब महात्माजी ने अपने मुख का वस्त्र हटा दिया। साधक के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। अरे, ये तो मेरे गुरुदेव ही हैं। उसने उनके चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम करके कहा—"गुरुदेव ! यह तो बहुत छोटी-सी बात थी. आपने इसे मुझे पहिले ही क्यों नहीं बता दिया, इतने समय तक भटकाया क्यों ?"

महात्मा ने कहा—"वत्स ! पहिले मैं बताता तो बात तुम्हारी बुद्धि में बैठती नहीं। जब तुमने धक्के खाकर सब स्थानों में

घूमकर व्यावहारिक दृष्टि से अनुभव कर लिया, कि वास्तव में धन में, भोग वस्तुओं के संग्रह में सुख नहीं। त्याग के अनन्तर ही शांति है, तब तुम्हारा यह ज्ञान दृढ़ हो गया। बिना अनुभव किये, केवल सुनने मात्र से ही अनुभूति नहीं होती संसारी विषयों के चिन्तन का अभाव हो जाने पर ही अन्तःकरण में मुदिता-प्रसन्नता-आती है उसी प्रसन्नता का नाम शांति है। शान्ति के बिना सुख नही आनन्द नहीं, प्रसन्नता नहीं, तुष्टि नहीं पुष्टि नही।

एक साधक था। वह अपने युवावस्था में सुख के साधन जुटाने को अनेक प्रकार के विधान बनाया करता था। अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिये सुख प्राप्ति के उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसने सुख के साधनों की एक सूची बनायी।

उसमें सर्व प्रथम सुंदर स्वास्थ्य को स्थान दिया क्योंकि सुंदर स्वास्थ्य ही न होगा, तो सुख का उपभोग कौन करेगा। फिर सुयश को दूसरा स्थान दिया। जिसकी कीर्ति है वही सुखी है। फिर सुदृढ़ शक्ति को तीसरा स्थान दिया। जो बलहीन है शक्ति सम्पन्न नहीं है उसे सुख कैसे मिल सकता है, सबसे बढ़कर उसने सम्पत्ति को स्थान दिया। सम्पत्ति के बिना सुख मिल ही नहीं सकता। अतः वह सम्पत्ति के लिये, स्वास्थ्य के लिये, सुयश और शक्ति संचय के लिये घोर प्रयत्न करने लगा। सम्पत्ति उसने पैदा की, किन्तु उतनी से संतोष नहीं हुआ। जितनी ही सम्पत्ति बढ़ती जाती असंतोष भी उतना ही बढ़ता जाता। जिस सुख की उसने कल्पना की थी, वह उसे और भी अत्यधिक दूर प्रतीत होने लगा। तब वह एक महात्मा के समीप गया, और जाकर कहा—"भगवन्! मेरे उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो रही है?"

महात्मा ने पूछा—"क्या उद्देश्य है तुम्हारा।"

युवक ने कहा—"सुख की प्राप्ति ही मेरा उद्देश्य है ?"

महात्मा ने पूछा—"अपने इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये तुमने क्या विधान बनाया है ? क्या-क्या साधन सोचे हैं ?"

युवक ने कहा—"सम्पत्ति एकत्रित करना, स्वास्थ्य बनाना, सुयश प्राप्त करना और शक्ति संचय करना।"

महात्मा ने कहा—"सुख प्राप्ति के साधन तो तुमने सुंदर-सुंदर सोचे हैं, किन्तु इनमें एक त्रुटि रह गयी है ?"

युवक ने पूछा—"वह कौन-सी त्रुटि रह गयी है, भगवन् !"

महात्मा ने कहा—"तुमने इसमें अन्तःकरण की शान्ति को सम्मिलित किया ही नहीं। बिना अन्तःकरण की शान्ति प्राप्त किये ये सबके सब व्यर्थ हैं। अन्तःकरण में लोभ से, तृष्णा से आसक्ति के कारण विक्षेप है, अशान्ति है तो संपत्ति, स्वास्थ्य, सुयश तथा शक्ति सब निरर्थक हैं। अतः अन्तःकरण की शान्ति ही सुख की जननी है और शान्ति प्राप्त होती है त्याग से। अहंता ममता के अभाव से।"

एक धर्मात्मा धनिक थे, उनके यहाँ बहुत-सा धन पूर्वजों का गड़ा हुआ था। चोरों को पता चल गया, वे उसे निकाल ले गये। अपार धन था। कुछ लोग धनिक के यहाँ सहानुभूति प्रकट करने आने लगे।

एक ने आकर कहा—"सेठजी ! बड़े दुःख की बात है, आपका इतना धन चला गया।"

सेठजी ने बड़े धैर्य से कहा—"चला कहाँ गया, किसी न किसी के काम में ही आया होगा। यहाँ भूमि में व्यर्थ गड़ा हुआ था। इसी का नाम आन्तरिक शान्ति है। धन के आने जाने में हर्ष विषाद नहीं। धन का तो स्वभाव ही है आने जाने का। उसके जाने पर हम अपनी अन्तःकरण की शांति को भंग क्यों होने

दें। अतः अन्तःकरण की उपरति-विक्षेप रहित अवस्था-का ही नाम शांति है।"

दैवीसम्पद् का पन्द्रहवाँ लक्षण है—अपैशुन। पिशुनता कहते हैं चुगली को। दूसरों की झूठी सच्ची बातों को व्यर्थ ही अन्य लोगों से जाकर भिड़ा देना, दूसरों की निन्दा बुराई करना यही पिशुनता है। जो लोग पिशुनता प्रिय होते हैं, वे शुभ कर्म करने वालों से जलते रहते हैं, किसी का उत्कर्ष देखते हैं, तो जलते हैं, किसी की प्रशंसा हो रही हो, तो उसमें भी दोष निकालते हैं। स्वार्थवश या बिना प्रयोजन के दूसरों की बातों को इधर-उधर नमक मिर्च लगाकर कहना यही पिशुन-चुगली करने वालों का कार्य होता है।

दक्षिण देश में एक महान् आचार्य हो गये हैं वे श्रीरंगम् में भगवान् रंगनाथ की सन्निधि में रहते थे। उनके बहुत से शिष्य भी उनके पास में निवास करते थे। एक शिष्य आचार्य की हृदय से सेवा किया करते थे। वे सब समय आचार्य की सेवा में ही सन्नद्ध रहते। सेवा एक ऐसा सद्गुण है, कि इसके द्वारा जड़ को भी वश में किया जा सकता है, फिर जो दयालु हैं, कृतज्ञ हैं, उनकी तो बात ही क्या। आचार्य का उनके प्रति अत्यधिक अनुराग था। अन्य शिष्य जो सेवा में विशेष रुचि तो रखते नहीं थे, किन्तु आचार्य के प्रियपात्र बनने को समुत्सुक रहते, वे लोग इनसे मन ही मन द्वेष रखते थे। उनमें एक अत्यन्त ही पिशुनता वृत्ति वाला था। वह उस सेवक शिष्य की आचार्य से झूठी सच्ची इधर उधर की चुगली किया करता। आचार्य इन बातों पर ध्यान ही न देते। उस सच्चे सरल सेवक को पता भी नहीं था, कि यह मुझसे भीतर ही भीतर द्वेष रखता है, वे तो सीधे सरल निष्कपट थे, उन्हें अपने काम से काम, दूसरे हमारे सम्बन्ध में

क्या सोचते हैं, इसकी चिंता उन्हें नहीं थी, किन्तु वह पिशुन वृत्ति वाला सदा यही सन्देह किया करता था, कि न जाने यह मेरी आचार्य से क्या-क्या चुगली किया करता होगा। इसीलिये यह बात का बतंगड बनाकर आचार्य से इनकी शिकायत किया करता था। आचार्य सरलता से कह देते—"अरे, तुम समझते नहीं वह बडा सरल सुशील सेवा परायण है। पवित्र पुरुष है।" इससे इसको और भी दुख होता, यह उस सेवक शिष्य के छिद्र खोजा करता।

एकदिन सेवक शिष्य आचार्य के लिये गीले कपडों से पूजा के लिये स्वच्छता पूर्वक तांबे के घड़े में कावेरी नदी से जल ला रहे थे। मार्ग में वह पिशुन वृत्ति वाला उनका गुरुभाई बिना जल लिये लघुशंका कर रहा था शौच तथा लघुशंका को बिना जल लिये जाना वैष्णव नियमों के विरुद्ध है। लघुशंका करते हुए उसने जल ले जाते हुए अपने सेवक गुरुभाई को देख लिया था, अतः उसकी आकृति बिगड़ गयी, वह भयभीत-सा हो गया और सोचने लगा-"यह जाकर अवश्य ही मेरी आचार्य से शिकायत करेगा कि मैं बिना पानी लिये लघुशंका कर रहा था। सबके सम्मुख मुझ पर डाँट पड़ेगी। मुझे बड़ा लज्जित होना पड़ेगा।"

उसके मनोभाव को ये सेवक शिष्य ताड़ गये। उसके संकोच को मिटाने के लिये ये कंधे पर पूजा के जल को रखे-रखे ही खड़े होकर लघुशंका करने लगे। इससे उसे बडा संतोष हुआ कि चलो मैं बैठकर तो कर रहा हूँ, ये तो खड़े होकर कर रहे हैं, सो भी आचार्य के पूजा के जल घडा को लेकर।

वह शीघ्रता से उठा, और इनके पहुँचने के पूर्व ही आचार्य के समीप जाकर चुगली करने लगा—देखिये, भगवन्! आप उनकी बड़ी प्रशंसा किया करते हैं, कि वे बड़े सुशील हैं आचार

विचार से रहते हैं। मैंने आज अपनी आँखों से आपके पूजा के जल घड़ा को लिये हुए खड़े-खड़े उन्हें लघुशंका करते देखा है।"

आचार्य को उसकी बात पर विश्वास नहीं हुआ। वह ऐसा तो कभी कर नहीं सकता। फिर भी उससे बोले—"अच्छा, ऐसी बात है, तो मैं उसे दण्ड दूँगा।"

इधर जब यह पिशुनवृत्ति वाला चला आया तो वे पुनः लौटकर कावेरी गये। पुनः स्नान किया घड़े को कई बार मिट्टी से मला और गीले कपड़ों से जल घड़े को लेकर आचार्य के समीप आये। आचार्य ने पूछा—"क्यों भाई, तुम पूजा के जल घड़े को लादे हुए खड़े-खड़े लघुशंका कर रहे थे?"

उन्होंने नम्रता के साथ कहा—"भगवन्! मैं तो पशु हूँ। भगवान् रङ्गनाथ जी का पूजा का जल हाथी की पीठ पर रख कर आता है। (बड़े-बड़े मन्दिरों में भगवान् की पूजा के लिये नित्य हाथी पर लादकर समीप की नदी या अन्य जलाशयों से गाजे बाजे के साथ जल लाया जाता है। आगे-आगे बाजे वाले बाजा बजाते चलते हैं, पीछे जल घड़ा को लादे हाथी चलता है। हाथी चलते-चलते मार्ग में दोर्घशंका लघुशंका भी करता चलता है। इसी को लक्ष्य करके सेवक शिष्य कह रहे हैं) हाथी लघुशंका करता है, तो पानी तो नहीं ले जाता, वह तो चलते-चलते करता जाता है। मैं भी जल ढोने वाला नरपशु हूँ, जब रङ्गनाथजी उस पशु के अपराध को पशु समझकर क्षमाकर देते हैं, तो आप भी मुझे पामर पशु समझ कर क्षमा कर दें।"

उनके इस उत्तर से आचार्य बहुत ही प्रसन्न हुए और अपने अन्य शिष्यों से बोले—"देखो, इस व्यक्ति ने तो आकर कैसी पिशुनता की। किन्तु इसने अपनी सरलता के कारण कैसा अपैशुनता का परिचय दिया। दूसरों के दोष न देखकर-दूसरों की

बुराई न करके– अपने को ही दोषी स्वीकार कर लिया। इसी का नाम अपैशुनता है।

दैवीसम्पद् का सोलहवाँ लक्षण है—प्राणियों के प्रति दया का भाव। दया कहते हैं सभी प्राणियों के दुखों को देखकर द्रवित हो जाना तथा उनके दुःख दूर करने की चेष्टा करना। इसमें महाराज रन्ति देव का दृष्टान्त अत्यन्त ही प्रसिद्ध है। चन्द्रवंश में महाराज संकृति के गुरु और रन्तिदेव दो पुत्र हुए। उनमें रन्तिदेव महान तपस्वी तथा वीतराग थे। उन्होंने अयाचित्त –आकाश–वृत्ति धारण कर रखी थी। बिना याचना किये अपने आप जो भी कुछ आ जाय, उसी से निर्वाह करना किसी से जल की भी याचना न करना। ये सपरिवार रहते थे। वे न तो कल के लिये कुछ संग्रह करते थे न किसी प्रकार का परिग्रहण ही लेते थे। किसी भी वस्तु में इन्हें ममत्व नहीं था। धैर्यशाली तो ऐसे थे, कि चाहे जितनी भी विपत्तियाँ पड़ें, ये किसी से कुछ कहते ही नही थे।

एक बार ऐसा हुआ कि ४८ दिनों तक इनके पास कुछ भी नहीं आया। ये बिना अन्न जल के भगवान् के भरोसे बैठे रहे। उनंचासवें दिन कही से दैवेच्छा से घृत, खीरा हलुआ तथा स्वादिष्ट पदार्थ एक घड़ा जल मिला। भगवान् को अर्पण करके परिवार के साथ ज्यों ही प्रसाद पाने बैठे, त्यों हो एक ब्राह्मण अतिथि आ गया। उसे तृप्ति पूर्वक भोजन कराया। फिर एक शूद्र भूखा आ गया। ये तो सभी को भगवत् स्वरूप समझते थे। अत: उसे भी तृप्त करके भोजन कराया। फिर एक अघोरी कई कुत्तों को साथ लेकर आ गया। उन सबकी भी तृप्ति की। अब अन्न तो बचा नही। थोड़ा सा जल बचा था। उसे बाँट कर ज्यों ही पीना चाहते थे, कि उसी समय एक अत्यन्त ही प्यासा

चांडाल आ गया। उसने कहा—"मुझे जल न मिला, तो मैं अभी मर जाऊँगा।" दयावश इन्होंने अपना सब जल उसे पिला दिया। सभी अन्न जल सब को श्रद्धा पूर्वक दिया। सभी को भगवत् बुद्धि से प्रणाम किया और भगवान् से यही प्रार्थना की—"मुझे सिद्धियाँ नहीं चाहिये, मुझे भोग तथा मोक्ष की भी इच्छा नहीं। में तो यही चाहता हूँ, कि समस्त प्राणियों के दुःख क्लेश मैं ही सहन करूँ। सब का दुःख मुझे मिल जाय। सभी प्राणी सुखी हो जायँ।" दया का ऐसा दिव्य दृष्टान्त संसार में और कहाँ मिल सकता है।

दैवीसम्पद् का सत्रहवाँ लक्षण है—अलोलुपता। संसारी सभी लोग विषयों का सेवन करते हैं, उन्हें विषयों को भोगते देख कर हमारी भी इच्छा उन्हें भोगने की हो जाती है, एक बार विषयों का भोग करने पर बार-बार भोगने की उत्कट भावना होना इसी का नाम विषय लोलुपता है। विषयों के भोग से वासना शान्त नहीं होती अपितु और उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है, इस बात को समझ कर विषय-भोगों से उपरति होने का ही नाम अलोलुपता है। विषयों की सन्निधि में भी उनसे निर्विकार बने रहना। उनमें दोष दृष्टि करके उन्हें ग्रहण न करना यही अलोलुपता के लक्षण हैं।

एक नवयुवक छात्र थे। घर का तो उन्होंने परित्याग कर दिया था, किन्तु मन में विषयों के प्रतिलोलुपता छिपी हुई थी। वे विद्याध्ययन करने गुरुकुल में आचार्य के समीप आये। वे बड़े भारी राजा के राजपुरोहित के पुत्र थे। आचार्य ने उनके भोजन का प्रबन्ध एक बहुत बड़े धनी नगरसेठ के यहाँ कर दिया। नगरसेठ के सेवक सेविकायें उन्हें नित्य बड़े

आदर सत्कार से भोजन करा देते। वे भोजन करके आचार्य के यहाँ चले जाते।

नगर सेठ की एक सेविका बहुत ही सुन्दरी थी। विद्यार्थी के भोजन आदि की वही व्यवस्था करती। नित्य के संसर्ग से विद्यार्थी को उस सेविका मे आसक्ति हो गयी। वे परस्पर में एक दूसरे को चाहने लगे। प्रेम में परस्पर में वस्तुओं का आदान-प्रदान स्वाभाविक है। प्रेमी के यहाँ खाना उसे खिलाना, मन की रहस्यमय बातें कहना और उससे रहस्यमय बातें पूछना। उपहार देना और उसके दिये हुए उपहार को लेना। ये प्रीति के ६ लक्षण हैं। उस सेविका ने वसन्तोत्सव निकट आने पर विद्यार्थी से सुन्दर वस्त्र तथा आभूषणों की याचना की।

उन दिनों विद्यार्थी धन नहीं रखते थे, वे निष्किञ्चन हुआ करते थे। घर-घर से भिक्षा माँगकर गुरु को दे देते थे। गुरु उस में से जो उठाकर दे दे उसी पर निर्वाह किया करते थे, फिर विद्यार्थी घर-घर भिक्षा न करके समर्थ पुरुषों के घरों में अथवा अन्नक्षेत्रों में भोजन पाने लगे। यह विद्यार्थी भी निष्किञ्चन था, आचार्य ने इसके भोजन का प्रबन्ध नगरसेठ के यहाँ कर दिया। विद्यार्थी धर्म के विरुद्ध यह काम लोलुप बन गया। जब इसकी प्रेमिका ने वस्त्र और भूषणों की याचना की, तो इसने कहा—"मेरे पास देने को क्या रखा है, मैं तुम्हें वस्त्र आभूषण कहाँ से दे सकता हूँ ?"

सेविका ने कहा—"इस देश श्रावस्ती का जो राजा है, उसका प्रतिदिन का नियम है, कि प्रातःकाल जो सर्व प्रथम उन्हें अभिवादन करता है, उसे वे दो माशे सुवर्ण प्रदान करते हैं। तुम ब्राह्मण हो, विद्यार्थी हो, प्रयत्न करोगे, तो तुम्हें मिल सकेगा। उसी से मेरे लिये वस्त्र आभूषण बनवा देना।"

उसने स्वीकार किया, रात्रि भर उसे नींद नहीं आई, अभी कुछ रात्रि शेष थी, उसने सोचा—ऐसा न हो कोई मुझसे पहिले पहुँच जाय, मैं पिछड़ जाऊँ। अतः वह रात्रि में ही राजा के शयन कक्ष में प्रविष्ट होने की चेष्टा करने लगा, राजसेवकों ने उसे चोर समझ कर पकड़ा और राजा के सम्मुख उपस्थित किया राजा ने विद्यार्थी को ऊपर से नीचे तक देखा। देखने में राजा को वह बड़ा सौम्य, कुलीन सदाचारी तथा सरल जान पड़ा। राजा ने पूछा—"क्यों, भाई ! तुम चोर हो ?"

विद्यार्थी ने कहा—"नही महाराज ! मैं चोर नहीं हूँ।"

राजा ने पूछा—"तुम कौन हो, क्या करते हो ?"

विद्यार्थी ने कहा—"कौशाम्बी के महाराजा के राजपुरोहित का पुत्र हूँ।"

राजा ने पूछा—"यहाँ श्रावस्ती नगरी में क्यों आये हो ?"

विद्यार्थी ने कहा—"यहाँ मैं आचार्य इन्द्र दत्त की सन्निधि में अध्ययन करने आया हूँ, विद्यार्थी हूँ।"

राजा ने पूछा—"इतनी रात्रि में मेरे शयन कक्ष में प्रवेश करने की चेष्ठा तुमने क्यों की ?"

विद्यार्थी ने कहा—"आचार्य ने मेरी भिक्षा का प्रबन्ध यहाँ के नगरसेठ के यहाँ कर रखा है। वहाँ पर जो हमें भोजन परोसती है, उस सेविका से मेरा प्रेम हो गया है, उसने वसन्तोत्सव समीप आने पर मुझसे वस्त्राभूषणों की याचना की और उसी ने मुझे उपाय भी बता दिया कि श्रावस्ती महाराज को जो प्रातः सर्व प्रथम अभिवादन करता है, उसे वे दो मासे सुवर्ण प्रदान करते हैं, इसीलिये मैं आपको सर्व प्रथम अभिवादन करने और दो मासा सुवर्ण पाने की अभिलाषा से आया हूँ।"

महाराज उसकी सरलता सौम्यता, निष्कपटता तथा भोले

पन मुग्ध हो गये। प्रसन्न होकर बोले—"मैं तुम्हारी सरलता और निष्कपटता पर प्रसन्न हूँ, तुम जो चाहो सो माँग लो, तुम जो भी माँगोगे, वही मैं तुम्हें प्रदान करूँगा।"

विद्यार्थी को स्वप्न में भी यह आशा नहीं थी, कि महाराज मुझ पर इतने प्रसन्न हो जायँगे। क्षण भर तो वह सोचता रहा, फिर बोला—"अन्नदाता! मुझे एक दिन का अवसर दें, मैं सोचकर माँगूगा।"

राजा ने कहा—"अच्छा, कल इसी समय सोचकर आना।"

एक दिन का समय मिलने पर वह अपने स्थान पर आया। आज वह भिक्षा करने नगरसेठ के घर नहीं गया। सोचता रहा राजा से क्या माँगू? जब राजा प्रसन्न ही हुआ है, तो दो मासे सुवर्ण क्या माँगू दो सौ सुवर्ण मुद्राएँ माँग लूँ। फिर सोचा—सौ दो सौ में क्या होगा, वे समाप्त हो जायँगी, रहने को एक महल माँग लूँ। फिर सोचा--महल कुछ खाने को तो देगा ही नहीं, १०-२० गाँव माँग लूँ। फिर सोचा—"दश बीस गाँवों से क्या होगा, १००-२०० गाँव माँग लूँ। इस प्रकार वह दिन भर सोचता ही रहा। जितना ही माँगने को सोचता उतनी ही तृष्णा और बढ़ जाती। जितनी ही वस्तुओं का संग्रह सोचता उतनी ही वस्तुओं का अभाव उसे और भी अधिक खटकता। दूसरे दिन जब वह महाराज के सम्मुख उपस्थित हुआ, तो महाराज ने पूछा—"कहो, क्या माँगना चाहते हो?"

विद्यार्थी ने कहा—"महाराज, आप अपना पूरा राज्य मुझे दे दीजिये। मुझे श्रावस्ती का राजा बना दीजिये।"

श्रावस्ती नरेश के कोई सन्तान नहीं थी, वे बहुत दिनों से अपना कोई उत्तराधिकारी बनाने की बात सोच रहे थे, उन्हें राज्य पाट से अत्यत वैराग्य हो गया था, आज जब ब्राह्मण

कुमार ने उनसे राज्य की याचना की तो उन्हें अत्यधिक हार्दिक प्रसन्नता हुई। उन्होने कहा—"विप्रकुमार! तुमने मेरे ऊपर बड़ा उपकार किया। मै विषयों की लोलुपता में फँसा हुआ था, तृष्णा-रूपी सर्पिणी के पाश में आबद्ध था, इन विषय वासनाओं के भोग का कहीं अन्त नहीं। उपभोग करने से वासनायें शान्त नहीं होती, विषय लोलुपता और बढ़ती ही जाती है, नित्य नयी वासनायें उठती ही जाती है। मै इतना विषयासक्त हो गया था, कि बार-बार इन्हें छोडकर तपस्या करने जाना चाहता था, किन्तु विषयों की लोलुपता के कारण जा न सका। आज भगवान् ने स्वय ही मुझे छुड़ा दिया। तुम्हारे जैसा कुलीन सुशील सरल उत्तराधिकारी मुझे और कौन मिलेगा। अतः आज ही तुम मेरा राज्य ले लो, और मुझे वन जाने की छुट्टी दे दो।"

विद्यार्थी ने कहा—"महाराज! मुझे एक दिन का अवकाश और दीजिये। कल फिर इसी समय मै आऊँगा।"

राजा ने एक दिन का अवकाश दे दिया। अब विद्यार्थी सोचने लगा—"विषयों में यदि सुख होता, तो इतने बड़े राजा इन इतने भारी विषय सुखों को छोडकर बन में क्यों जाना चाहते। विषयों को जितना ही भोगते जाओ विषय लोलुपता उतनी ही बढ़ती जाती है, मैं विद्यार्थी था, कितना सुखी था, कोई चिंता नही, संग्रह नहीं, परिग्रह नहीं। भिक्षा कर ली पढ़ते रहे। जब से मेरे मन में कामना हुई विषयों की लोलुपता बढ़ी। स्त्री से राग हुआ, तो उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न आरंभ हुआ। याचना जैसी नीच वृत्ति स्वीकार की। अभी यथेष्ठ भोग वस्तुएँ मैंने ग्रहण नहीं कीं, केवल मिलने की आशा से ही इतनी तृष्णा बढ़ी कि हजार पांच सौ सुवर्ण मुद्राओं से भी शांत न हुई, राजा से पूरा राज्य ही माँग बैठा। राज्य पाकर भी यह विषय लोलुपता समाप्त नहीं

होने की। अतः विषयों से यथाशक्ति बचे रहना ही श्रेयस्कर है।"

यही सोचकर वह राजा के पास दूसरे दिन पुनः गया। राजा ने कहा—"द्विजकुमार! तुम्हारा स्वागत है। तुम्हारा मंगल हो, आओ, तुम्हारा मैं राज्यसिंहासन पर अभिषेक करा दूँ। और फिर मैं निश्चित होकर तपस्या में मन लगाऊँ।"

विद्यार्थी ने कहा—"राजन्! तपस्या करना तो ब्राह्मण का धर्म है, मैं विषय लोलुपता में फँसकर अपने धर्म से च्युत हो गया था। आपके त्याग विराग और राज्य की निस्पृहता ने मुझे पुनः सावधान कर दिया। विषय लोलुपता ही विष है, विषयों से निस्पृह होना ही अमृत है, आप अपने राज्य को अपने ही पास रखिये अब मुझे दो मासे सुवर्ण भी न चाहिये। जिसके लिये मैं सुवर्ण चाहता था, उसके प्रति मेरी विषय लोलुपता अब समाप्त हो गयी। जो विषयों के प्रति अलोलुप हैं, जो विषयों की सन्निधि में भी इन्द्रियों को अपने वश में किये हुए हैं, उसको राज्य पाट की या अन्य किसी विषय सामग्री की आवश्यकता ही क्या है।" यह कहकर विद्यार्थी बिना कुछ लिये ही चला गया उस दिन से उसने नगरसेठ के यहाँ भिक्षा करना छोड़ दिया। घर-घर से मधुकरी लाकर गुरु को अर्पण कर देता, गुरु जो उसमें से दे देते उसी पर जीवन निर्वाह करता। विषयों में अनासक्त होना ही आलोलुप्ता है।

दैवीसम्पद् का अठारहवाँ लक्षण है—"मृदुता। मृदुता कहते हैं, कोमलता को। अपना पुत्र है, शिष्य है, वह न करने योग्य कार्यों को भी करने का आग्रह करता है, तो उस पर क्रोध न करके उसे मीठे शब्दों में पुचकार कर सरलता के साथ समझा देने को ही मृदुता कहते हैं। 'मन में, वचन में तथा व्यवहार में

कहीं भी कठोरता न आने पावे इसी का नाम मृदुता है।"

उत्तङ्क नाम के एक मुनि थे मारवाड़ प्रदेश में वे तपस्या करते थे। महाभारत युद्ध समाप्त करके भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी द्वारका जा रहे थे, मार्ग में उन्हें मुनि को कृतार्थ करना था, उनके पास जाकर भगवान् ने कहा—"मुनिवर! हमें प्यास लगी है, पानी पिलाइये।"

मुनि ने पूछा—"श्रीकृष्ण चन्द्र दुर्योधन के यहाँ सन्धि करने आये थे, उस विषय में क्या हुआ?"

भगवान् ने कहा—"वह सन्धि हो नहीं सकी। दुर्योधन माना नहीं।"

मुनि पूछा—"फिर क्या हुआ?"

भगवान् ने कहा—"फिर कौरव पांडवों का महाभारत युद्ध हुआ। दोनों ओर की अठारह अक्षोहिणी सेना विनष्ट हो गयी। समस्त कौरवों के वंश का नाश हो गया।"

मुनि ने पूछा—"श्रीकृष्ण कहाँ चले गये थे?"

भगवान् ने कहा—"मैं ही तो श्रीकृष्ण हूँ मेरी बात कौरवों ने मानी नहीं।"

मुनि ने कहा—"वासुदेव! तुम सर्व समर्थ हो, तुम चाहते तो सन्धि हो सकती थी, तुमने जान बूझकर कौरवों के वंश का नाश कराया है, अतः मुझे तुम पर क्रोध आरहा है, मैं तुम्हें शाप देता हूँ, जैसे तुमने कौरवों के वंश का नाश कराया है वैसे ही तुम्हारे वंश का भी नाश हो जाय।"

भगवान् ने हँसते हुए कहा—"मुनिवर! मैं आप के इस शाप को सहर्ष सिर से धारण करता हूँ। किन्तु भगवन्! क्रोध तपस्या में सबसे बड़ा विघ्न है। आपने क्रोध करके अपने तप को क्षीण कर दिया। मैं चाहूँ, तो आपके शाप के बदले में आपको भी शाप

दे सकता हूँ। किन्तु मैं ऐसा नहीं करूँगा। मैं तो तुम्हें वरदान ही दूँगा। तुम्हारी जो इच्छा हो, वह वर मुझसे माँग लो।

भगवान् की ऐसी मृदुल कोमल वाणी सुनकर मुनि का क्रोध शांत हो गया। उन्होंने श्रीकृष्ण का अभिनंदन करके उनसे यह वर माँगा—"भगवन्! यहाँ जल का बड़ा अभाव है, आप ऐसा वर दीजिये कि हमारे यहाँ जल की कमी न रहे।"

भगवान् ने कहा—"मुनिवर! आप जहाँ भी जल की इच्छा करेंगे, वहीं से जल का स्रोत निकल पड़ेगा और मेघों का एक समूह आपके नाम से ही विख्यात हो जायगा। उसी दिन से एक समूह मेघों का नाम मुनि के नाम से उत्तङ्कमेघ प्रसिद्ध हो गया। जो कभी-कभी मारवाड़ भूमि में अभी उत्तङ्कमेघ नाम से वर्षा करते रहते हैं।"

अपकारी के प्रति भी मन, वचन और कर्म से कठोरता त्याग कर कोमल हो जाना उनके प्रति भी प्रीति युक्त बर्ताव करने को मार्दव, अक्रूरता अथवा कोमलता कहते हैं।

दैवीसम्पद् का उन्नीसवाँ लक्षण है—"ह्री"। ह्री कहते हैं लोक लज्जा को। मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है विषयों की ओर जाने की। किन्तु जो लोक लज्जा के कारण विषयों की ओर जाने से मन को रोक लेती है उसी का नाम ह्री है।

एक बड़े सम्मानित सेठ का पुत्र था, उसका किसी अकुलीन कुमारी से स्नेह हो गया। दोनों ने निश्चय किया हम इस नगर को छोड़कर भाग चलेंगे। निश्चय तो कर लिया, किन्तु पीछे श्रेष्ठि कुमार ने सोचा—"इस अकुलीन स्त्री के साथ मुझे कोई मेरा परिचित व्यक्ति मिल गया, तो मैं मारे लज्जा के पृथ्वी में गड़ जाऊँगा। मेरे माता पिता जब सुनेंगे तो उन्हें मेरे इस दुष्कृत्य पर कितनी लज्जा आवेगी। मेरे कुल में कितनी अप-

कीर्ति होगी। यही सोचकर वह एकान्त में धीरे से उसके पास गया और बोला—"ऐसा करना मेरे कुल में कलंक लगाना है। मैं किसी को मुख दिखाने योग्य न रहूँगा। आज से मेरा तुम्हारा कोई भी सम्बन्ध नहीं रहा।"

बहुत से पापों से तो मनुष्य लोक लाज के ही कारण बच जाता है। जो निर्लज्ज हो जाते हैं, वे सभी प्रकार के पाप कर सकते हैं। अतः ह्री-लोकलाज भी बड़ा भारी गुण है।

दैवीसम्पद् का बीसवाँ लक्षण है–अचपलता। चपलता कहते हैं चंचलता को। बहुत से मनुष्य बिना बात बकते ही रहते हैं, कोई पूछे न पूछे कुछ न कुछ कहते ही रहेंगे। व्यर्थ के कार्यों को बिना प्रयोजन के करते रहेंगे। और कुछ नहीं तो हाथ में जो तिनका आ जाय उसे ही तोड़ते रहेंगे। बहुत से अंगों को हिलाते रहेंगे।

मृत्यु की पुत्री सुनीथा बड़ी चंचल प्रकृति की लड़की थी। वह वन में जो भी कोई मुनि मिल जाय, उसे ही बिना कारण के कोड़ों से मारने लगती। एक ऋषि कुमार वन में तपस्या करते थे, वह नित्य प्रति उसे जाकर बिना कारण के मारती। ऋषिकुमार ने उसे बहुत समझाया; किन्तु वह मानी ही नहीं। अतः उन्होंने शाप दिया—"दुष्टे! तू अकारण मुझे मारती है, जा तेरे दुष्ट पुत्र पैदा होगा।" इसी सुनीथा के गर्भ से बड़ा दुष्ट वेन पुत्र हुआ। इसलिये चंचलता बहुत बड़ा दोष है। जिनमें यह चंचलता न हो मृदुता सरलता आर्जवता हो वही अचापल गुण वाला कहलाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने अर्जुन के पूछने पर कहा—' अर्जुन! मैंने दैवीसम्पदा के नौ लक्षण तो तुमसे कह दिये। अब दशवां लक्षण है अहिंसा–मनसा वाचा कर्मणा किसी जीव को हिंसा न करना।"

ग्यारहवाँ लक्षण है—सत्य। जो जैसा देखा हो उसे मधुरता के साथ सरलता के साथ ज्यों का त्यों कह देना। उसमें मीन मेख न लगाना।

बारहवाँ लक्षण है—अक्रोध। किसी पर किसी भी कारण से मन से, वचन से तथा शरीर के अन्य व्यवहारों से क्रोध न करना।

तेरहवाँ लक्षण है—त्याग। सब वस्तुओं को ईश्वर प्रदत्त समझकर उपयोग में लाना। अन्य की अधिकृत वस्तु पर मन न चलाना।

चौदहवाँ लक्षण है—शान्ति। सदा प्रसन्न रहना। मन से, वचन से तथा कर्म से किसी भी बात की चिन्ता न करके शान्त भाव से आचरण करना।

पन्द्रहवाँ लक्षण है—अपैशुन। किसी की भी किसी से चुग-लई न करना। इधर की बात को उधर जाकर न भिड़ाना।

सोलहवाँ लक्षण है—दया। सभी जीवों को भगवान् का पुत्र और अपना भाई समझकर उनके दुख को अपना ही दुख समझ-कर उसे मिटाने की चेष्टा करना।

सत्रहवाँ लक्षण है—अलोलुपता। विषयों के प्रति लालच न करना, विषय होने पर भी उनके प्रति अनासक्त बने रहना।

अठारहवाँ लक्षण है—मार्दव। किसी के भी प्रति क्रूरता का व्यवहार न करना।

उन्नीसवाँ लक्षण है—ह्री। बुरे कामों से लोक लज्जावश ही सही सदा बचते रहना।

बीसवाँ लक्षण है—अचापल। मन से वचन से कर्म से किसी भी प्रकार की चपलता न करना। इन्द्रिय मन और शरीर को वश में रखना।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! ये मैंने भगवान् द्वारा कहे हुए

दैवीसम्पदा के बीस लक्षणों का वर्णन किया। अब शेष ६ लक्षणों को आपसे आगे कहूँगा। आशा है आप इन्हें दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

नहीं जीव को हनन "अहिंसा" "सत्य" यथारथ।
"त्याग" फलाशारहित "शान्ति" मन विषयनि उपरति॥
"अपैशुन" नहिं करै कलह की बातनि इत उत।
"दया" दुखिनि पै नेह "अलोलुपता" सब जानत॥
"मार्दव" है अति मृदुलता, लोकलाज कूँ 'ह्री' कहत।
चंचलता तैं रहित जो, "अचापल" ताकूँ भनत॥

दैवी सम्पदा के लक्षण (३)

(३)

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥*

(श्री भ० गी० १६ अ० ३ श्लोक)

छप्पय

तेजस्वी नित रहै क्षमा हिरदे में धारै।
धीरज धारन करै शौच तैं तन मन भारै॥
द्रोह न कबहूँ करै मान अति करै न भारत।
दुख में दुखी न होहि कबहुँ नहिं होवे आरत॥
ये सब गुन जामें रहैं, समझो वे हैं शुद्ध नर।
दैवी सम्पति में भये, अरजुन! तुम पावन प्रवर॥

दैवी सम्पदा के २६ लक्षणों में से ९ लक्षण प्रथम श्लोक में ११ लक्षण द्वितीय श्लोक में बताये गये। शेष ६ लक्षण इस तृतीय श्लोक में बताकर दैवीसम्पदा को प्राप्त पुरुषों के लक्षण पूरे किये गये हैं। बीस लक्षणों तक का वर्णन तो पिछले प्रकरण

---

* तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह और बहुत मान-सम्मान की इच्छा न करना। हे अर्जुन! ये ही दैवीसम्पदा को प्राप्त पुरुषों के लक्षण हैं॥३॥

में हो चुका अब इक्कीसवें सद्‌गुण से आगे का वर्णन किया जाता है।

दैवीसम्पद् का इक्कीसवां सद्‌गुण है—तेज। कुछ लोग क्रोध को ही तेज समझने लगते हैं, वास्तव में क्रोध तो आसुरी सम्पदा है और वह एक दुर्गुण है। तेज कहते हैं श्रेष्ठ पुरुषों के उस प्रभाव को जिसके कारण दूसरे लोग धर्षित हो जाते हैं। जिसके कारण साधारण लोगों को उनके सम्मुख इधर-उधर की व्यर्थ बातें बनाने का, उनकी आज्ञा उल्लङ्घन न करने का, उनकी ओर देखने का साहस नहीं होता।

श्री रामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी को आज्ञा दी, जाओ वन में सीता जी को छोड़ आओ। हमारी आज्ञा मानो, कारण मत पूछो। लक्ष्मण जी ने उनकी इस कठोर आज्ञा का चुपचाप पालन किया। वे सीता जी को चुपके से वाल्मीकि आश्रम के समीप छोड़ आये। और माता जानकी से कह दिया—'माँ! यहाँ से थोड़ी दूर पर भगवान् वाल्मीकि का आश्रम है, उसी में रहकर अपनी विपत्ति के दिनों को बिताओ।"

लक्ष्मण जी को आज्ञा थी, सीता जी को वन में छोड़ कर लौटकर हमें सम्बाद दो।" लक्ष्मण जी ने इतना ही कहा—"हाँ, मैं सीता जी को वन में छोड़ आया।" वाल्मीकि आश्रम में ही भगवती जानकी ने दो पुत्र रत्नों को प्रसव किया। संयोग की बात उस दिन शत्रुहन जी भी वाल्मीक आश्रम पर उपस्थित थे और वे सीता माता को प्रणाम करने भी गये। उनका आशीर्वाद भी ग्रहण किया।

अश्वमेघ यज्ञ के समय लव कुश ने श्री रामचन्द्र जी के अश्वमेघ के यज्ञीय घोड़ा को भी पकड़ा, उनसे शत्रुघ्न की भरत जी के पुत्र की लड़ाई भी हुई अङ्गद और हनुमान ने जानकी जी

का दर्शन भी किया। किन्तु श्री रामचन्द्र जी के तेज के सम्मुख इनमें से किसी का भी साहस नहीं हुआ कि श्री रामचन्द्र जी से सीता जी की चर्चा भी करते। श्री रामचन्द्र जी को तो सीता जी का पता तब चला जब लव और कुश ने वाल्मीक रचित समस्त रामायण सुना दी। तब उन्होंने पूछा—"क्या सीता अभी जीवित है? कहाँ है?"

तब लोगों ने बताया—"प्रभो! जगज्जननी निर्दोषा हैं, गङ्गाजल सदृश के पवित्र हैं, वे भगवान् वाल्मीकि के आश्रम पर हैं।"

फिर लक्ष्मण जी को ही आज्ञा हुई—"सीता जी को बुला लाओ।"

दूसरा कोई होता, तो कह देता, किसी दूसरे को भेज दीजिये मुझसे यह पाप न होगा, पहिले कहा छोड़ आओ, अब कहते हो बुला लाओ। किन्तु श्री राम के तेज के सम्मुख ऐसा कहने का साहस किसका था, लक्ष्मण जी चुपचाप रथ लेकर चले गये।

जगज्जननी का भी तेज कुछ कम नहीं था। श्री रामचन्द्र जी की आज्ञा पाकर भी उन्होंने लक्ष्मण से कहा—"लक्ष्मण! अब मुझे लज्जित करने को महाराज क्यों बुला रहे हैं। मैं कभी राजपरिषद् में ऐसे गयी नहीं। श्रीराम के सम्मुख भरी सभा में मैं अपराधिना बनकर उनके सम्मुख कैसे जाऊँगी। राजा राम का अब मुझसे प्रयोजन ही क्या है, स्त्री की आवश्यकता सन्तान के ही निमित्त होती है, सो सन्तान मेरे हो ही चुकी। श्रीराम उन दोनों बच्चों को शुद्ध समझें तो अपने पास रखें। मैं तो यहीं वन में तपस्वियों का-सा जीवन बिताते हुए शरीर का अन्त कर दूँगी। महाराज से मेरा यही सन्देश कह देना।"

लक्ष्मण जी माता के तेज के सम्मुख इतने घर्षित हो गये थे, कि उनका साहस एक शब्द भी अपनी ओर से कहने का नहीं हुआ। लौट कर श्रीराम को माता का ज्यों का त्यों सन्देश सुना दिया।

तेजस्वी राम इस उत्तर से तनिक भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने लक्ष्मण से कहा—"सौमित्र! तुम पुनः सीता के पास जाओ। और कहो सीते! तुम्हारी मैं एकमात्र गति हूँ, तुम्हें यहाँ आना ही पड़ेगा। अपनी निर्दोषिता को भरी सभा में अपराधिनी की भाँति खड़े होकर सिद्ध करना ही होगा।"

लक्ष्मण पुनः चुपचाप लौटकर गये। सीता जी ने पति का सन्देश सुना कैसी भी तेजस्विनी थीं, फिर भी पत्नी ही थीं पतिव्रता के धर्म को स्मरण करके अपराधिनी की भाँति सभा में गयीं। आज श्रीराम उनके प्राणनाथ पति नहीं थे, आज वे कठोर शासक थे, उन्होंने सिंहासन पर बैठे हुए सीता जी को देखा तक नहीं। सब के सामने अपराधियों के कठघरे में सीता को खड़ी होने की आज्ञा हुई। आज वाल्मीकि ऋषि के रूप में नहीं साक्षी के रूप में उपस्थित हुए। श्री रामचन्द्र न्याय सिंहासन पर बैठे रहे। महर्षि खड़े होकर साक्षी देते रहे। जानकी के साथ घोर अन्याय हो रहा था। सब जानते थे जानकी जी गङ्गा जल के सदृश पवित्र हैं, श्रीरामचन्द्रजी भी जानते थे किन्तु जानते थे सीता के प्राणाधार राम। यह कठोर शासक निर्दयी राम, जो सिंहासन पर बैठा था, वह जानकर भी अनजान बना हुआ था। उस समय अन्तःपुर की स्त्रियाँ ढाह मार कर रो रही थीं, प्रजा हाय हाय! चिल्ला रही थी। दूसरा कोई तेजहीन राजा होता तो प्रजा विप्लव कर देती, किन्तु श्रीराम के तेज के सम्मुख किसी का चूँ तक करने का साहस नहीं हुआ। तेजस्वी पुरुष प्रपनी

सत्यता, न्याय-प्रियता, पक्षपात-रहित होने के कारण ऐसे बन जाते हैं, कि किसी को उनके तेज के सामने बोलने तर्क का साहस नहीं होता। जिसको भी वे जो भी आज्ञा दे देते हैं, उसे तत्काल उनकी आज्ञा का पालन करना ही पड़ता है।

एक यवन सेना का सेनापति था। अत्यन्त ही तेजस्वी था। युद्ध में जब शत्रु सेनायें लड़ने आतीं, तो वह प्रतिपक्ष की अपने शत्रु की सेना को आज्ञा देता—"आपस में ही लड़ने लगो।" तो शत्रु सेना उसकी आज्ञा से आपस में परस्पर में लड़कर मर जातीं उसकी आज्ञा में इतना तेज होता, कि उसका प्रतिवाद करने का किसी का साहस ही नहीं होता।

पंचनद के एक महाराजा बड़े तेजस्वी थे, वे एक आँख से काने थे। एक सेवक बीसों वर्ष से उनकी निजी सेवा में रहता था। एक विदेशी ने उनके निजी सेवक से पूछा—"भाई हमने सुना है तुम्हारे महाराजा एक आँख से काने हैं?"

उसने उत्तर दिया—"मुझे तो इस बात का पता नहीं कि वे काने हैं या दो आँखों वाले, काले हैं या गोरे। उनका इतना भारी तेज है, कि आज तक उनके मुख की ओर देखने का मुझे कभी साहस ही नहीं हुआ।"

तेजस्वी पुरुषों के सम्मुख न कोई बोल ही सकता है, न कोई अपने पाप को उनके सम्मुख छिपा सकता है। तेज के कारण उनकी आज्ञा अप्रहति होती है।

दैवी सम्पद् का बाईसवाँ लक्षण है, क्षमा। जिसने अपना अपराध किया हो और अपने में उसे दंड देने की सामर्थ्य भी हो, फिर भी दंड न देकर उसके अपराध की ओर ध्यान न देना इसी का नाम क्षमा है। ब्राह्मणों में यही विशेषता थी कि वे अपराधी को भी दंड नहीं देते थे। जब महर्षि जमदग्नि के आश्रम से हैहय

वंशी राजा सहस्रार्जुन बल पूर्वक उनकी कामधेनु को हाँक ले गया तब भी महर्षि ने उनका प्रयवरोध नहीं किया। उनके पुत्र क्रोधी परशुरामजी ने जब यह बात सुनी तो वे फरसा लेकर राजधानी में गये। राजा को मारकर गौ को छुड़ा लाये। तब महर्षि ने उन्हें धिक्कारते हुए कहा—"हाय! हाय! परशुराम! तुमने यह क्या किया। तुम वीर हो तो इसका यह अर्थ तो नहीं कि तुम किसी की हत्या कर डालो। देखो हम ब्राह्मण हैं, हमें जो सबसे श्रेष्ठ पूजनीय पद प्राप्त हुआ है वह क्षमा के ही कारण हुआ है। क्षमा ही हम लोगों का परम भूषण है। औरों की बात जाने दो, लोक पितामह ब्रह्मा को भी क्षमा गुण के ही कारण ब्रह्मपद प्राप्त हुआ है। ब्राह्मण जो सूर्य के समान सर्वत्र चमकते रहते हैं, इसका एक मात्र कारण उनका क्षमा गुण ही है। श्रीभगवान् भी क्षमागुण वालों पर शीघ्र प्रसन्न होते हैं अतः जाओ तीर्थ यात्रा करके अपने पाप का प्रायश्चित्त करो।

महर्षि शमीक के पुत्र शृंगी ने भी जब पिता के गले में मृतक सर्प डालने वाले महाराज परीक्षित् को शाप दे दिया, तब ऋषि ने राजा के अपराध की ओर तो तनिक भी ध्यान नहीं दिया, उलटे अपने पुत्र को डाँटते हुए कहा—"तू बड़ा मूर्ख है। राजा ने भूख प्यास के कारण कुछ कर भी दिया, तो तुझे क्षमा कर देना चाहिये।"

क्षमा सबसे भारी गुण है, जो अपराधी को क्षमा नहीं कर सकता, उसमें त्रुटि है, वह सब में भगवान् को देखने का अभ्यासी नहीं। जो प्राणी मात्र में भगवान् के दर्शन करता है, उसकी दृष्टि में कोई अपराधी है ही नहीं। जब कोई अपराधी नहीं है तो किसको बुरा कहे, किसे दंड दें।

महाराष्ट्र के एक महात्मा गोदावरी स्नान करके आ रहे थे,

एक दुष्ट पुरुष ने उन पर थूक दिया। वे पुनः स्नान करने चले गये। ऐसे उसने १०८ बार थूका और वे बार-बार उत्साह पूर्वक स्नान करने चले जाते। अंत में दुष्ट की बुद्धि शुद्ध हुई। उसने उनके चरणों में पड़कर क्षमा याचना की।

तब महात्मा ने कहा—"अरे इसमें क्षमा की क्या बात है, तुमने तो हम पर बड़ा उपकार किया १०८ बार गंगा स्नान का फल प्राप्त करा दिया। वैसे हम एक बार स्नान करके ही चले जाते।" यही क्षमा का सच्चा स्वरूप है।

रीवाँ राज्य के एक महाराजा थे, वे लगभग सौ वर्ष के हो गये थे। उनके राजकुमार भी ७०-८० वर्ष के हो गये। पिता को मरते न देखकर राज्य पाने के लोभ से उसने पिता के रसोइये से मिल कर दूध में उन्हें विष दिला दिया। रसोइये ने भगवान् का भोग लगाकर ज्यों ही दूध का पात्र महाराजा के हाथ में दिया, त्यों ही उसका सत्य जाग उठा। उसने महाराज को रोकते हुए कहा—"अन्नदाता! इस दूध को न पियें?"

महाराज ने पूछा—"क्यों?"

रसोइये ने कहा—"महाराज! मैंने इसमें महाराज कुमार के कहने से विष मिला दिया है?"

महाराज ने पूछा—"तुमने भगवान् का भोग लगा दिया था?" रसोइये ने कहा—"हाँ, महाराज! भोग तो लगा दिया था।"

महाराज ने कहा—"जब भगवान् ने इसे पी लिया है, तो इस भोग का मैं कैसे परित्याग कर सकता हूँ।" यह कह कर वे पूरे दूध को पी गये। फिर राजकुमार को बुलाकर हँसते हुए बोले—"अरे, तुमने हमसे क्यों नहीं कहा, कि हमें राजा बना दो। यह तो तुम मेरे ऊपर कृपा करके मेरा भार हलका कर देते। लो, आज से तुम राजा हुए।"

उसी दिन उन्हें राजगद्दी देकर वे चित्रकूट में तपस्या करने चले गये। क्षमा का ऐसा दृष्टान्त इस युग में और कहाँ मिलेगा।

दैवी सम्पदा का तेईसवाँ लक्षण है—धृति। धृति धैर्य का नाम है, इसकी विशेष परीक्षा विपत्ति में होती है। कितनी भी आपत्ति सिर पर पड़ जायँ, किन्तु इन विपत्तियों के कारण तनिक भी विचलित न होने का ही नाम धृति है। इस विषय में महाराज शिवि का दृष्टान्त बहुत प्रसिद्ध है। जो धैर्यवान पुरुष हैं, वे किसी फल की आकांक्षा से ऐसे दुष्कर धर्म का पालन नहीं करते उनका स्वभाव ही होता है, कि भारी से भारी विपत्ति पड़ने पर भी विचलित नहीं होना।

महाभारत का एक आख्यान है, एक बार अष्टक, प्रतर्दन, वसुमना और शिवि ये चारों भाई रथ पर चढ़ कर स्वर्ग जा रहे थे। मार्ग में उन्हें नारदजी मिल गये चारों ने नारदजी से प्रार्थना की आप भी हमारे साथ इस रथ पर बैठ जाइये। नारदजी तो घुमक्कड़ ही ठहरे उन्हें इसमें क्या आपत्ति होनी थी। वे भी रथ में बैठ गये। जब नारदजी रथ पर बैठ गये तब बात चलाने को एक राजा ने पूछा—"भगवन्! हम चारों अक्षय स्वर्ग को जा रहे हैं—हममें से सर्व प्रथम पुण्य किसका क्षीण होगा। कौन सबसे पहिले पृथ्वी पर ढकेला जायगा। तब नारदजी ने अष्टक का नाम बताया इसलिये कि यह अपनी प्रशंसा अपने मुख से करता है।"

इस पर तीनों ने पूछा—"हम तीनों में से कौन पहिले पृथ्वी पर आवेगा, तब नारदजी ने कहा—तुम में से पहिले प्रदर्शन का पुण्य क्षीण होगा, क्योंकि यह दान तो करता है, किन्तु पूर्ण श्रद्धा के साथ नहीं संकोच के साथ विवशता पूर्वक देता है। देने वालों को कठोर वचन कह कर देता है।"

तब दोनों में से एक ने पूछा—"हम दोनों में से कौन पहिले

स्वर्ग से च्युत होगा। तब नारदजी ने वसुमना का नाम लिया। इसलिये कि यह दान देता तो है मधुर वचन भी बोलता है, किन्तु कभी-कभी कहकर भी नहीं देता। मीठी बातें कहकर टरका देता है।"

अब रह गये शिवि तब एक ने पूछा—"अच्छा, मान लो महाराज शिवि और आप दोनों स्वर्ग में जायं, तो आप दोनों में से कौन पहिले पृथ्वी पर आवेगा, किसका पुण्य पहिले क्षीण होगा ?"

इस पर नारदजी ने कहा—"हम दोनों में से मेरा ही पहिले पुण्य क्षीण होगा, मै महाराज शिवि की बराबरी किसी प्रकार भी नहीं कर सकता। इनके समान धृतियुक्त-धैर्य वाला पुरुष मिलना अत्यन्त कठिन है।"

एकबार महाराज शिवि के समीप एक ब्राह्मण ने आकर कहा—"राजन् ! मैं बहुत भूखा हूँ, मुझे खाने को भोजन दीजिये।"

शिवि ने कहा—"ब्रह्मन् आप आज्ञा करें, आप क्या भोजन करेंगे ?"

ब्राह्मण ने कहा—"मैं तो अघोरी हूँ, मांस भक्षण करूँगा।"

शिवि ने कहा—"आप जिसका मांस खावें उसी का मांस मैं मंगा दूं ?"

ब्राह्मण ने कहा—"मै तो नर का मांस खाऊँगा। वह भी राजकुल का हो, सो भी अविवाहित। यदि आप अपने पुत्र बृहद्-गर्भ का मांस पकाकर मुझे खिलावें तो मैं खा सकता हूँ।"

राजा ने कहा—"आप यहो विराजिये में अभी लाता हूँ।"

ऐसा कह कर महाराज शिवि गये। उन्होंने अपने पुत्र को मार कर उसका मांस पकाकर उसे एक थाल में रखा और उस थाल को वस्त्र से ढककर, स्वयं अपने सिर पर रखकर ब्राह्मण के

समीप गये। किन्तु वह ब्राह्मण वहाँ मिला नहीं, वे ब्राह्मण को खोजने चले, तभी एक व्यक्ति ने आकर महाराज से कहा—"महाराज। वह ब्राह्मण तो दुखित होकर भूख के कारण कोप में भर कर आपके महलों को, धनागार को, शस्त्रागार, अश्वशाला आदि में आग लगा रहा है।"

इतना सुनकर भी महाराज शिवि विचलित नहीं हुए, उन्होंने न तो कोप किया और न दुःख ही। धैर्य धारण किये हुए ब्राह्मण के समीप गये और बड़ी ही नम्रता के साथ बोले—"ब्रह्मन्! मेरे अपराध को क्षमा करें, मुझे आने में देर हो गयी। अब भोजन तैयार है, आप इसे ग्रहण करें। ब्राह्मण यह सुन कर कुछ देर तो चुप रहा। पुनः क्रोध में भरकर बोला—"इसे तू ही खाले।" राजा ने वस्त्र उठाकर ज्यों ही ब्राह्मण की आज्ञा का पालन करना चाहा, त्योंही ब्राह्मण ने राजा का हाथ पकड़ लिया और कहा—"राजन्! आपकी धीरता को धन्य है, आप महान् सहनशील है, क्रोध को आपने क्षमा द्वारा जीत लिया है, घोर विपत्तियों में भी आप घबडाते नहीं।"

ब्राह्मण राजा के सद्गुणों की प्रशंसा कर ही रहे थे, कि राजा को सामने से वस्त्रालंकारों से सुसज्जित हंसता हुआ अपना वही पुत्र आता हुआ दिखायी दिया जिसका मांस वे लाये थे। वे ब्राह्मण भी और कोई नहीं थे। साक्षात् ब्रह्माजी ही थे जो राजा के धैर्य की परीक्षा लेने आये थे।

राजा ने महान् दुष्कर कर्म किया था। ऐसा दुष्कर कर्म कोई कर नहीं सकता था। इस पर राजा के मंत्रियों ने पूछा—"महाराज! आपने किस कामना से ऐसा दुष्कर्म किया? क्या आप यश प्राप्ति की इच्छा से ऐसा कार्य किया करते हैं?"

राजा शिवि ने उत्तर दिया—' मैं जो दान देता हूँ, वह यश

ऐश्वर्य तथा स्वर्गादि लोकों की कामना से नहीं देता। दान देना धर्म है, इस प्रथा को पूर्ववर्ती पुण्यात्मा पुरुषों ने प्रचलित किया है इसलिये मुझे भी इसका प्रेमपूर्वक पालन करना चाहिये, यही सोचकर मैं दान देता हूँ। पूर्व पुरुषों के प्रचरित पुण्य पथ पर पुरुषों को चलना चाहिये, इसी भावना से मैं निष्काम भाव से दान धर्म करता हूँ।"

नारदजी कह रहे हैं—"सो राजकुमारो! शिवि के सदृश मैं निष्काम भाव से कर्म करने वाला क्रोध रहित, क्षमावान धैर्यशाली नहीं हो सकता। धृति का यह एक अद्भुत उदाहरण है।"

दैवीसम्पद् का चौबीसवाँ लक्षण है—शौच। शौच कहते हैं बाहर भीतर की पवित्रता को। बाहर की पवित्रता तो मिट्टी जल से होती है, यहाँ शौच से अभिप्राय भीतरी शुद्धि से ही है। भीतरी शुद्धि शुद्ध आहार से होती है। जैसा अन्न खाया जायगा वैसा ही मन बनेगा, अतः शुद्धता से प्राप्त किया, शुद्धता से बनाया हुआ, शुद्ध व्यक्तियों द्वारा लाया हुआ आहार ही करना चाहिये। द्रव्यदुष्ट, भावदुष्ट, दृष्टिदुष्ट, व्यक्तिदुष्ट आहार नहीं करना चाहिये। अन्न का दोष अन्तःकरण पर तत्काल पड़ता है। भीष्म-पितामह, द्रोणाचार्य और शल्य तीनों ही के समीप पांडव युद्ध के पूर्व प्रणाम करने गये थे, तीनों ने ही एक ही बात कही—"यह पुरुष अर्थ का दास है, अर्थ किसी का दास नहीं। हमने दुर्योधन का अन्न खाया है। इसी से अधर्म पक्ष समझकर भी उसकी ओर से लड़ रहे हैं" भीतर का शौच आहार शुद्धि द्वारा होता है।

दैवीसम्पद् का पच्चीसवाँ लक्षण है—अद्रोह। द्रोह कहते हैं शत्रुता के कारण अपकार करने को। जो शत्रुतावश अपकार भी करने वाला हो, उसके साथ भी द्रोह न करके प्रेमपूर्वक वर्ताव करने को अद्रोह कहते हैं।

एक महाराजा थे। उनके चार छोटे भाई थे। महाराज ने अपने चारों छोटे-छोटे भाइयों को तो चारों दिशाओं में राज्य दे रखे थे, स्वयं चक्रवर्ती बनकर सब को सम्हाल करते थे। उनका एक पुरोहित था, वह उनसे जलता था। उसने चारों छोटे भाइयों को बहकाकर उन्हें उलटी सीधी बातें समझाकर बड़े चक्रवर्ती भाई को मारने को चार कृत्यायें छोड़ीं। किन्तु वे ऐसे धर्मात्मा थे, कि वे चारों कृत्यायें उनके तेज के कारण उनके समीप जा न सकीं। उलटी लौटकर उन भाइयों को और पुरोहित को ही मार डाला। जब यह समाचार चक्रवर्ती महाराजा ने सुना तो वे भाइयों के पास गये भगवान् से प्रार्थना करके पुरोहित के सहित उन्हें जीवित कराया। उनका बड़ा आदर किया। पुरोहित से तनिक भी द्रोह न करके उनका सम्मान किया। उनकी इसी अद्रोह वृत्ति के कारण कृत्या उनका कुछ भी अनिष्ट न कर सकीं और अपने भाइयों को भी जीवित कर लिया।

दैवीसम्पद् का छब्बीसवाँ लक्षण है—न अतिमानता। अर्थात् अधिक मान सम्मान की इच्छा न करना। मान सम्मान की इच्छा होना यह स्वाभाविक है, जंव धर्म है, किन्तु मान सम्मान के पीछे पागल बने रहना। पग-पग पर इस बात का ध्यान रखना यहाँ हमारा मान क्यों नहीं हुआ। यहाँ हमारा अपमान न हो जाय, यह मूर्खता है। बहुत से लोग अपना सिंहासन अपने साथ बाँधे फिरते है, बहुत से लोग कोई भूल से उनसे तनिक ऊपर बैठ गया, तो वे जल भुनकर भस्म हो जाते हैं, यह आसुरी प्रकृति है। अरे, काहे का मान काहे का अपमान। शरीर तो जड है, पांच भौतिक है, मलायतन है, इसका क्या मान। आत्मा नित्य है; मान अपमान से रहित हैं। आत्मा का कोई अपमान कर ही नहीं सकता। फिर सम्मान के पीछे पागल बने रहना मूर्खता

नहीं तो और क्या है। अतः दैवी सम्पद् सम्पन्न पुरुष मान के लिये विशेष अधीर नहीं रहते। मान मिले तो अच्छा न मिले तो उससे भी अच्छा। इस प्रकार ये छब्बीस लक्षण दैवीसम्पदा प्राप्त पुरुषों में स्वाभाविक होते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान् ने कहा—"अर्जुन बीस लक्षण तो दैवीसम्पदा के मैंने तुम्हें बता ही दिये। अब इक्कीसवाँ लक्षण है—स्वाभाविक तेज।"

बाईसवाँ लक्षण है—"अपराधी के प्रति भी क्रुद्ध न होना, उसके अपराधों को सरलता पूर्वक क्षमा कर देना।"

तेईसवाँ लक्षण है—"धृति। अर्थात् विपत्ति में भी दुःखों को देखकर अन्तःकरण की वृत्ति को विचलित न होने देना। अपने संतुलन को नष्ट न होने देना।"

चौबीसवाँ लक्षण है—"शौच। अन्तःकरण जिन कारणों से पवित्र रहे, तथा बाहरी इन्द्रियाँ भी जिन वस्तुओं से पवित्र रहें, उन्हीं साधनों को सावधानी के साथ सतत करते रहना।"

पच्चीसवाँ लक्षण है—"अद्रोह। जो अपने साथ अभद्र व्यवहार करे बुरा बर्ताव करे, उसके प्रति भी द्वेष के भाव न रखना। उसके साथ भी स्नेह का बर्ताव करना।"

छब्बीसवाँ लक्षण है—"नातिमानिता। अपने में पूज्यपने का दर्प न रखना। कोई सम्मान न करे तो उस पर क्रोध न करना। मान अपमान को समान समझना।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! ये दैवीसम्पद के गुण कैसे आवें?"

भगवान् ने कहा—"ये सब सम्पदायें पूर्व जन्म के शुभ कर्मों द्वारा जन्मजात स्वाभाविक ही हुआ करती हैं। पूर्व वासनाओं के ही अनुसार विद्या तथा कर्म प्रकट हो जाया करते हैं। जिन्होंने पूर्व जन्मों में जप, तप, यज्ञ, यागादि पुण्य कर्म किये हैं, वे पुण्यात्मा

योनियों में उत्पन्न होकर पुण्यवान् पुरुष होते हैं। जिन्होंने पूर्व जन्मों में क्रूर कर्म किये हैं, वे पाप कर्म करने वाले पापी होते हैं। अतः ये दैवीसम्पदायें शरीरारम्भ के ही समय से हो जाती हैं।"

अर्जुन ने कहा—"भगवान् ! आप ने दैवीसम्पदाओं का तो वर्णन कर दिया। अब कृपा करके आसुरीसम्पदाओं का वर्णन और कर दें। जो लोग आसुरीसम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए हैं, उन पुरुषों के लक्षण क्या हैं?"

भगवान् ने कहा—"अर्जुन ! आसुरीसम्पदा का तो बड़ा विस्तार है, जितने भी क्रूर कर्म हैं सब आसुरीसम्पदा के अन्तर्गत ही हैं। उनका विस्तार न करके मैं केवल ६ में ही समस्त आसुरीसम्पद् के लक्षणों को अन्तर्भुक् कर दूँगा। उन ६ में पूरी आसुरीसम्पदाओं का समावेश हो जायगा।"

अर्जुन ने पूछा—"वे ६ लक्षण कौन-कौन से हैं?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब भगवान् जैसे आसुरी सम्पदा के लक्षणों का वर्णन करेंगे, उस प्रसंग को मैं आप से आगे कहूँगा।"

छप्पय

अज्ञानि वश नहिँ होइ वही गुन "तेज" कहावै।
अपराधी अपराध "क्षमा" करि मन नहिँ लावै॥
"धृति" धीरज कूँ कहैं न विचलित दुख में होवै।
"शौच" शुद्धता कहत उभय इन्द्रिनि मल धोवै॥
अरि हू के प्रति सरलता, द्रोहरहित "अद्रोह" है।
"नातिमानिता" भाव सम, छब्बिस गुन दैवी कहै॥

[इसके आगे की कथा अगले अंक में पढ़िये]

—:❀:—

छप्पय भर्तृहरि शतकत्रय

श्री भर्तृहरि के नीति, शृङ्गार और वैराग्य तीनों शतकों का छप्पय छन्दों में भावानुवाद।

संस्कृत भाषा का थोड़ा भी ज्ञान रखने वाला और वैराग्य पथ का शायद ही कोई पथिक होगा जिसने भर्तृहरि शतक का अल्पांश ही सही, अध्ययन न किया हो। इन श्लोकों में महाराज भर्तृहरि का सम्पूर्ण ज्ञान वैराग्य मूर्तिमान हो उठा है। संस्कृत भाषा के अध्ययन के अभाव में यह ग्रन्थरत्न आज धीरे-धीरे नवीन पीढ़ी के लोगों के लिये अपरिचित सा होता जा रहा है। श्रीब्रह्मचारी जी महाराज जैसे समर्थ एवं वैराग्य धन के धनी महापुरुष ही इसके अनुवाद जैसे दुष्कर कार्य को कर सकते थे। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि श्री महाराज जी ने कई वर्षों से होने वाले जिज्ञासु एवं भक्तों के आग्रह को इसके अनुवाद द्वारा पूर्ण किया।

आशा है वैराग्य पथ के पथिक सब प्रकार के जिज्ञासु विद्वान्. एवं साधारण जन इससे लाभ उठावेंगे। ३०० से अधिक छप्पय की पुस्तक प्रेस में पहुँच गई है शीघ्र ही आपको प्राप्त होगी।